❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष २ Year 2

अङ्क ३ Number 3

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उ० प्र०

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया (आसाम)

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३)] [एक अँक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेंट, शाहजहांपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूचीः—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय		२
३—भजन	तुलसीदास	५
४—वेद	समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी फतेहगढ़	६
५—एतक़ाद	श्री रामचन्द्र जी अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	११
६—अनन्त यात्रा		१६
७—साधना का लक्ष्य और स्वरूप	श्री रघुनन्द नप्रसाद एम० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट	२२
८—तुम्हें क्या दूँ, भगवान ? (कहानी)	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	२५
९—अशेष का परिचय (कविता)	श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव एम. ए.	३१
१०—भजन	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी 'संध्या'	३२
११—प्रार्थना	श्री रामानुजाचार्य	३२
12–Realization-ways and means	Shri Ram Chandra Ji president S.R.C.Mission	33
13–Drowning man and his Helper	Shri Raghavendra Rao, Gulbarga (Mysore)	40
14–Spirituality	Shri Ishwar Sahai Lakhimpur (Kheri)	4
15–The Sign of the time	Issued by Publications Department S.R.C.Mission	50
16–Experiences of an Abhyasi	An Abhysi	55
17–Mind & its control	Shri J. B. Lal, Retd. D.F.O. Lakhimpur (Kheri)	62

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो !)

वर्ष २] अश्विन सम्वत् २०१५ वि० (सितम्बर / अक्तूबर) १९५८ ई० [अङ्क ३

॥ प्रार्थना ॥

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

(श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना)

सम्पादकीय

पाश्चात्य दार्शनिक गण दर्शन को मुख्यत: गहन चिन्तन और विशद विवाद की आधार भूमि के रूप में ग्रहण करते हैं। निःसंदेह वह यह भी स्वीकार करते हैं कि चिन्तन और विवाद के परिणाम स्वरूप जो सिद्धांत विकसित होते हैं, उन का व्यापक प्रभाव व्यक्तियों और जातियों के व्यावहारिक जीवन पर पड़ना अनिवार्य है। किन्तु व्यावहारिक जीवन के शिक्षक और सचालक के रूप में दर्शन पश्चिम में प्राय: अपरिचित ही रहा है। यहाँ तक कि दर्शन शास्त्र की दो प्रधान व्यावहारिक शाखाओं—नीति शास्त्र और धर्म शास्त्र—में भी विशेष बल सैद्धान्तिक विवेचन पर ही रहा है।

भारतीय दर्शन में भी गहन चिन्तन और सैद्धान्तिक विवाद विशद रूप में मौजूद हैं; किन्तु भारतीय दर्शन की विशिष्टता उसका व्यावहारिक पक्ष है। सैद्धान्तिक स्तर पर तो भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में विरोध पाया जाता है; किन्तु व्यावहारिक साधना का पक्ष सभी सम्प्रदायों में नितान्त सामान्य है। युग विशेष की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार उस शाश्वत सामान्य साधना पद्धति की नये ढंग से व्याख्या करने की आवश्यकता भले ही पड़ती रही हो, किन्तु इस पक्ष में समस्त भारतीय दर्शनों में एक मौलिक एकता परिलक्षित होती है।

भारतीय दर्शन के इस सर्वसामान्य साधना पक्ष की मौलिक विशिष्टता उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। पिछले अंक के सम्पादकीय लेख में धर्म, नैतिकता और अध्यात्म का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करते समय अध्यात्म की मूल समस्या मानव जीवन के चरम आदर्श स्वरूप के विषय में बतलाई गई है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण मनुष्य के वर्तमान स्वरूप को उसकी सम्भावनाओं की इति के रूप में स्वीकार नहीं करता। परिणामत: वर्तमान के प्रति असंतोष उत्पन्न हो जाता है। मानव जीवन का चरम उद्देश्य तो

अपने आदर्श स्वरूप की उत्तरोत्तर प्राप्ति है न कि यथा तथ्य का स्वीकरण और उसके प्रति समायोजन मात्र। स्थूल दृष्टि से वर्तमान के प्रति ऐसा दृष्टिकोण निराशावादी प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में वह मानव की अनन्त गरिमा का परिचायक है। अपने वर्तमान स्वरूप के प्रति असंतोष यदि हमें अकर्मण्यता की प्रेरणा प्रदान करे, तो वह निःसंदेह निराशावादी कहा जाना चाहिए। किन्तु भारतीय दर्शन में जीवन का चरम लक्ष्य—अर्थात् मानव का आदर्श स्वरूप अत्यन्त सुस्पष्ट और सुनिश्चित ढंग से निर्धारित किया गया है। अत: वर्तमान के प्रति असन्तोष मानव की अपने लक्ष्य की दिशा में उत्तरोत्तर प्रगति की आधार शिला बन जाता है, और निराशा के लिए कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। इतना ही नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि-कोण तो मानव की अपने प्रति आस्था को असीम बल प्रदान कर देता है, जिसके परिणाम स्वरूप वर्तमान का कितना ही दुःख और दैन्य झेलने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

किन्तु ऐसी शक्ति बहुधा अन्ध विश्वास द्वारा भी प्राप्त होती है, जो मानव को प्रगति की ओर नहीं, किन्तु दुर्गति की ओर अग्रसर करती है। भारतीय दर्शन के विरुद्ध भी अन्धविश्वास का आरोप प्रस्तुत किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन में सामान्य रूप से प्रयुक्त प्रत्यय अत्यन्त रहस्यपूर्ण हो गये हैं। उदाहरणार्थ मानव जीवन का चरम आदर्श न्यूनाधिक पारिभाषिक अन्तर के साथ सभी सम्प्रदायों में 'मोक्ष' बतलाया गया है, मोक्ष—प्राप्ति का साधन 'अविद्या' का विनाश और 'संस्कार'—शून्यता माना गया है; और इस साधन को सुदृढ़ स्थिरता प्रदान करने का उपाय 'अभ्यास' और 'वैराग्य' कहा गया है। इन समस्त प्रत्ययों को अभ्यास वश आज भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु उन का अर्थ और रूप कुछ ऐसा रूढ़ और विकृत हो गया है कि आज के वैज्ञानिक युग के जन-जीवन में उन का महत्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं हो पाता। और आज की वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली से परिचित व्यक्तियों के लिए तो यह प्रत्यय अनेक अन्य विकृत अर्थ वाले प्रत्ययों की पूर्वमान्यता पर आधारित होने के कारण इतने जटिल और दुर्बोध हो गये हैं, कि वे लोग अपनी सच्चाई और सदाशयता की इन प्रत्ययों के प्रति

श्रद्धा और आस्था के साथ संधि स्थापित कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं ।

किंतु इतने सबल और सुदृढ़ भारतीय दर्शन और संस्कृति के मूलभूत प्रत्यय ऐसे खोखले तो नहीं हो सकते । वास्तविकता यह है कि युग विशेष की परिस्थितियों और समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए भारतीय दर्शन के मूल प्रत्ययों की व्याख्या अनेक बार हुई है । इसी का परिणाम भारतीय दर्शन के इतने सम्प्रदाय हैं, जिनमें बौद्धिक स्तर पर सैद्धांतिक अंतर भले ही दिखाई दें, किंतु मौलिक अंतर नगण्य ही है । वास्तव में आज भी इन प्रत्ययों को आधुनिक युग की परिस्थितियों और समस्याओं के संदर्भ में समझने की आवश्यकता है । 'सहज मार्ग' पत्रिका के अगले अंकों के सम्पादकीय लेखों में यथा सम्भव भारतीय दर्शन के मूल भूत सामान्य प्रत्ययों को आधुनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा । सहृदय पाठकों, विज्ञ महानुभावों और उत्साही साधकों और जिज्ञासुओं– सभी को इस दिशा में योगदान के निमित्त हमारा विनम्र सविनय आमंत्रण है ।

परम्परागत प्रत्ययों को आधुनिक सांस्कृतिक संदर्भ में प्रस्तुत करने के प्रयास में दो प्रकार की सावधानी अपेक्षित है:—

(१) यह प्रत्यय अनेक अन्य जटिल प्रत्ययों की पूर्व मान्यता पर आधारित होने के कारण रहस्यात्मक और दुर्बोध हो गये हैं । उदाहरणार्थ सामान्यत: 'मोक्ष' 'आत्मा' और उसके 'आवागमन' अर्थात् व्यक्ति के 'पूर्वजन्म' आदि प्रत्ययों की पूर्वमान्यता पर आधारित है । इस के अतिरिक्त व्यावहारिक साधना से सम्बद्ध होने के कारण युग विशेष में यह विशेष ढङ्ग से प्रस्तुत किये गये हैं । परिणामत: उन के शब्दार्थ में विभिन्नता और जटिलता पाई जाती है । इस जटिलता और दुर्बोधता को दूर करने का एक प्रयास पाण्डित्य पूर्ण ढङ्ग से हो सकता है । इस प्रयास के द्वारा विभिन्न मतों का सङ्कलन और मूल भूत प्रत्ययों की ओर इङ्गित किया जा सकता है, और उन प्रत्ययों के स्वीकरण पर बल दिया जा सकता है । ऐसे प्रयास के द्वारा साधना सम्बन्धी प्रत्ययों का ऐतिहासिक महत्व ही स्पष्ट होता है किन्तु व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से साधना रूढ़ि के वृत्त में ही रह जाती है । कबीर, गीता, पातञ्जल योग, योग वाशिष्ठ,

उपनिषद् आदि पर इस कोटि के अनेक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं, जो लेखकों की विद्वत्ता को नि:सन्देह प्रकाशित करते हैं, किन्तु साधना सम्बन्धी प्रत्ययों को सच्चे बुद्धिजीवी जिज्ञासुओं के समक्ष व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से तनिक भी स्पष्ट और सुलभ नहीं करते ।

(२) दूसरी कठिनाई बुद्धिजीवी जिज्ञासुओं की मन:प्रवृत्ति से ही सम्बद्ध है । बहुधा वे साधना—विषयक प्रत्ययों को अपने ज्ञान के स्तर पर ही स्थित रह कर ग्रहण करना चाहते हैं । किन्तु चेतना के एक स्तर की अनुभूति किसी अन्य स्तर की अनुभूति में अनूदित नहीं हो सकती । साधारणत: इच्छा की तृप्ति सुख का अनुभव प्रदान करती है, जिस से सभी परिचित हैं । इच्छाओं के अशेष उन्मूलन की स्थिति में जैसी अनुभूति होती है, उसके लिए भी 'सुख' या 'आनन्द' शब्द का ही प्रयोग किया जायेगा । किन्तु इस प्रकार के 'सुख' को इच्छा की तृप्ति से प्राप्त 'सुख' के उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास ठीक उसी प्रकार भ्रामक होगा, जैसे कि आम की मिठास को शकर की मिठास के उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास । अत: साधना–सम्बन्धी प्रत्यय उपयुक्त ढङ्ग से स्पष्ट तभी हो सकते हैं, जबकि उन्हें व्यावहारिक स्तर पर खुले मस्तिष्क से ग्रहण करने का प्रयास किया जाये ।

—सम्पादक

★ भजन ★

(राग जयजयवन्ती)

जाउँ कहाँ तजि चरण तुम्हारे ।
काको नाम पति—पावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥१॥
कौने देव बराइ बिरद—हित, हठि हठि अधम उधारे ।
खग, मृग, व्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे ॥२॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया–बिवस बिचारे ।
तिन के हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे ॥३॥

—तुलसीदास

वेद

(समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी महाराज, फ़तेहगढ़)

संस्कृत भाषा में जिस मादा[1] विद् से वेद लफ़्ज़ निकला है उसका अर्थ केवल 'ज्ञान' है। ज्ञान जानने को कहते हैं। जानना व्यापक अर्थ, व्यापक रूप और व्यापक विचार वाला शब्द है। उसकी बेशुमार सूरतें, हालतें और कैफियतें हैं। लेकिन सिर्फ तीन सूरतें अपनी निगाह के सामने कायम करना चाहिए:—तम, रज और सत। तम बुनियाद है, रज दरम्यानी है, सत चोटी है। बुनियाद और चोटी आखिरी और इन्तहाई दर्जे हैं। दरम्यानी कड़ी ही ऐसी है जिसके सिलसिले में सोच-विचार, गौर ओर फिक्र का ज्यादा इमकान[2] होता है। अतः जिसको आम तौर पर ज्ञान कहा जाता है वह सिर्फ बीच की सूरत है, और उसी की मदद से तीनों सूरतों के समझने समझाने का प्रयास किया जाता है।

वेद को त्रिगुणात्मक-विषय कहा जाता है। किन्तु उसका इनहसार[3] ज्यादातर रज अर्थात बीच की तमीज़ी[4]—ताक़त पर है। तम, रज और सत तीन गुण हैं। तम केवल आधार, जड़ और बुनियाद को कहते हैं। इस शब्द के संस्कृत में बहुत अर्थ हैं, लेकिन आम तौर पर तम को अज्ञान, आलस्य, सुस्ती, ठोसता, मूढ़ता आदि कहते हैं। इन सबसे बुनियाद आधार, सहारा ही मुराद ली जाती है। रज कहते हैं दरम्यानी, वस्ती, बरज़खी[5], चंचल, कशमकश, जद्दोजहद[6], सोच-विचार को। इस शब्द से हमेशा बीच का दर्जा ही समझना चाहिए। सत कहते हैं खुशी, पसन्दीदगी, ऊंचाई, लताफत[7], पाकीजगी[8], और फ़ज़ीलत[9], को। यह चोटी है। इस को केवल इसी अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिए।

इन्हीं तीनों गुणों के सम्मिश्रण और संगति से इस रचना को त्रिलोकी (तीन लोक वाली), तसलीसी

१ धातु २ सम्भावना ३ निर्भरता ४ विवेक शक्ति संसार और स्वर्ग के बीच का लोक ६ कोशिश ७ आनन्द ८ पवित्रता ९ बड़प्पन

(तीन विभाग वाली) कहते हैं। और उनके अन्दर जो उसूल[10] कि सब को घेरे हुए असलियत बना हुआ दाखिल रहता है, उसका नाम वेद है। वेद इस दृष्टि से तसलीसी, त्रिगुणात्मक है। उससे कोई जगह, मखलूक[11], समय, विषय और जिन्स खाली नहीं है। देश, काल, वस्तु तीनों ही त्रिगुणात्मक हैं। हर दरख्त की जड़, तना और चोटी है। लेकिन तना दरम्यानी है। ज्यादातर नजर बीच ही के हिस्से पर पड़ती है। और जिन्दगी की कशमकश की धारें सुस्पष्ट, प्रकट और अनुभवगम्य रूप में उसी में नज़र आती हैं। हर तन की सूरत में सम्मिश्रण है। लेकिन जो चीज उसके अन्दर रक्खी जाती है, ज्यादा बीच में ही रहेगी। बीच का हिस्सा ख़याल और नज़र का केन्द्र बनता है। हर वक्त, हर काम और हर शगल के आरम्भ और अन्त पर नज़र कमतर रहती है। हर प्राणी के सर, धड़ और पांव होते हैं। और मुजस्सिमा[12] यानी जिस्म, व्यक्तित्व की शारीरिकता ही जो दरम्यानी कड़ी है ज्यादातर निगाह के आकर्षण का कारण होती है। किन्तु वेद का इन उदाहरणों से क्या सम्बन्ध है?

इन्हीं कड़ियाँ की मशमूली[13] कैफियत, उसके इल्म (ज्ञान) और उस ज्ञान के परिणाम आदि की मजमूई[14] हालत का नाम वेद है। जो तत्व सब को घेरे हुए है, वह ज्ञान है। लेकिन ज्ञान को कहीं दिल की एहसासी[15] कैफियत न मान लेना चाहिए वर्ना ग़लतफहमी की सम्भावना है।

ज्ञान उन्सर (तत्व) और जौहर (असलियत) है। आंख की बीनाई[16], कान की समाअत[17] और दिल के ख़याल, और तमाम जीव, जन्तु, जर्रात वग़ैरा में भी वह ही शामिल है, वह ही सबका आधार हैं। लेकिन सीमित अर्थ में उसको समझ लेने से फिर वेद या ज्ञान शब्द की अहमियत[18] जाती रहती है। वेद, किताब, मुल्क मज़हब, कौमियत तक सीमित नहीं है बल्कि वह त्रिलोकी का ज्ञान है। त्रिलोकी में तमाम सृष्टि—फ़लकुलअफलाक, तहतुलसरा और बलन्दी और पस्ती के तमाम दरम्यानी विभाग शामिल हैं, जिनको

१० सिद्धान्त ११ सृष्टि १२ शरीर १३ सम्मिलित अवस्था १४ सम्पूर्ण १५ अनुभव की हालत १६ देखने की शक्ति १७ सुनने की शक्ति १८ महत्व।

पाताल और अन्तरिक्ष कहते हैं। वेद को ऋषियों ने समझा या सन्तों ने समझा। वेद फ़ैज़[१९] आम का चश्मा (श्रोत) है। यह उस माल का सूत है कि जिसमें तमाम कुर्रे, सवाबित और सय्यारे अक़ताब व अब्दाल अर्थात वसु, ध्रुव, आदित्य, रुद्र आदि दाने की शक्ल में गुँथे होते हैं।

इस वेद और ज्ञान शब्द की असलियत को समझने के लिए थोड़ी देर के लिए इस लफ़्ज़ वेद और ज्ञान को भूल जायें, और बजाय इसके एक जौहरे[२०]–बसीत और उन्सरे[२१]–मुहीत और ऐसी ताक़त ख़याल कर लें कि वह मख़लूक़[२२] की फ़र्दियत (Identity) क़ायम करने वाली ताक़त अर्थात् अलग अलग सूरत बनाने वाली ताक़त है, जिसको Wisdom, अक्ल अव्वल, महत्–तत्व, अपरा प्रकृति कहते हैं। (यह Mind या मन के एक विभाग ऊपर की तरफ एक जौहरे–बसीत और उन्सरे–मुहीत है, जो सब व्यक्तियों की शक्ल क़ायम करता है। मिसाल, नाली के कीड़े की प्रारम्भिक शक्ल जिसका कोई मुंह या कोई अलामत[२३]–तमीज़ी न बनी हो।) इसके बाद जो ताक़त कि हर एक लोथड़े में निज़ामी ताक़त लगा कर उसके अलग अलग मुंह या तमीज़ी चिन्ह बना दे या बना देने पर क़ादिर[२४] हो, उस ताकत का नाम ज्ञान या अक्ल अव्वल है, जो जौहरे–बसीत है और कोई मख़लूक़ और कौम, मज़हब, मिल्लत उस से ख़ाली नहीं है। हिन्दुस्तान वालों ने उस ताक़त का नाम वेद और ज्ञान रख लिया है। और मुल्क वाले इस को दूसरा नाम देते हों इससे हमको इन्कार नहीं है। हिन्दू लोग भी अगर लफ़्ज़ वेद और ज्ञान के रिवाजी और सामान्यत: प्रयुक्त अर्थों को अलग रख कर कोशिश करेंगे, तो मुमकिन है कि असल हक़ीक़त तक रसाई[२५] हासिल कर सकें। वर्ना उनको अख्तियार है कि तमाम उम्र लफ़्ज़ी बहसों और जुमलों में अटकते हुए लड़ते झगड़ते रहें। इस ज्ञान की व्याख्या ऋषियों द्वारा हुई है, अत: ऋषि शब्द की वास्तविकता पर भी ग़ौर करने की ज़रूरत है।

१९ सामान्य धार २० सर्व व्यापक वास्तविकता २१ सब को घेरे रहने वाला तत्व २२ सृष्टि २३ विवेक चिन्ह २४ शक्तिमान २५ पहुँच

ऋषि नाम है मन्त्र दृष्टा का। ऋषि कहते हैं कुदरत (प्रकृति) की मुजस्सिम (सम्पूर्ण) ताक़त वाली शख़्सियतों[२६] को। ऋषि का अर्थ मुतहर्रिक वजूद[२७] है चाहे वह अपनी धुरी पर मरकज़ी(केन्द्रीय) सूरत में गर्दिश[२८] करें या एक केन्द्र पर कायम रह कर उसी को धुरी बना रखे। इनसे कोई जगह ख़ाली नहीं है। इनमें से कोई वसु है जिसमें सृष्टि बसती है; कोई आदित्य है जो औरों को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता रहता है; और कोई रुद्र है जो इम्तहान और ज़िन्दगी के कारोबारी सिलसिले में रुलाता और परेशान करके राह पर लाता है।

(१) मन्त्र–दृष्टा अर्थात् मन्त्रों का देखने वाला। मन्त्र नाम है प्रकृति के भेद, तदबीर, तरकीब, सलाह और मशविरा का। जो इससे बाख़बर हो वह ऋषि है। ऐसे लोग बेशुमार हैं और सात मख़सूस[२९] हैं :—(१) भरद्वाज, (२) अगस्त, (३) यमदग्नि, (४)अत्रि, (५) गौतम, (६) विश्वामित्र, (७) बृहस्पति। यह कुदरत (प्रकृति) के सात उसूल (सिद्धांत) हैं, जो आलमे–फ़िज़ा[३०] में वेद अर्थात् ज्ञान की सूरतें हैं। इनमें वह मुजस्सिम शख़्सियतें भी हैं, जिनको हर ऋषि के ज़ेरे–क़दम कहना चाहिए अर्थात् हर ऋषि की ख़ास सिफ़त[३१] से सम्बद्ध हैं।

(२) यन्त्र–दृष्टा अर्थात् क़ायदे में चलने चलाने के औज़ार को देखने वाला। संस्कृत में नियन्ता अर्थात् देश, काल और वस्तु को रोक कर बाक़ायदा रखने वाले। ऐसे ऋषि को आदित्य कहते हैं। जो सूर्य के क़िस्म के नूरानी[३२] देवता का नाम है।

(३) तन्त्र–दृष्टा अर्थात् कुदरत की हरकत (Movement) की धार, Vitality, तार और सिलसिले को देखने वाला और तार को फैलाने वाला। ऐसे ऋषि को रुद्र (रुलाने वाला) कहते हैं, अर्थात् तजुर्बे के बाद रास्ता दिखलाने वाला।

२६ व्यक्ति २७ गतिशील अस्तित्व २८ चक्कर २९ विशिष्ट ३० आकाश मन्डल ३१ विशेष गुण ३२ प्रकाशमान।

(४) अलावा इनके वसु और ध्रुव हैं ।
इन्सानों में वह व्यक्ति ऋषि हैं जो इनके एक एक राज़ (भेद) से बाख़बर हो कर ज्ञान, ध्यान, विज्ञान के कारोबार में हिस्सा लेते रहते हैं । यह हर मुल्क और हर कौम में रहते हैं, नाम जुदा २ ज़बान (भाषा) में हैं: अब्दाल, कुतुब, अवतार, वली, नबी, सवाबित सय्यारे, साधु, सन्त ।

हिन्दुस्तान के इन ऋषियों ने वेद को एक ऐसा खास नाम भी दिया है कि जिसके सुन लेने, सुन कर जान लेने और जान सुन कर मान लेने से वेद की असलियत आसानी से समझ में आ जाती है । इसका नाम 'श्रुति' है । 'श्रुति' वह है जो सुनी गई, सुनी जाती, और सुनने में आती है । इसको 'श्रुत' भी कहते हैं । इसका मतलब है सुना गया और सुनने में आया हुआ । यह 'श्रुति'अपने विशिष्ट अर्थ में पाक[३३] उसूल, पाक कानून, और पाक राज़ है । जो वेद है । आजकल इसको 'सुरत' भी कहते हैं । इसको ऋषियों ने पहले भी सुना और अपने अन्दर सुना । और इसको हम ऋषियों के नियमों के अनुसार स्वयं सुन सकते हैं और सुनते हैं ।

श्रुति केवल सुने हुए को कहते हैं, जो आवाज़े-मुतलक[३४] और मुफ़र्रद[३५] है । स्मृति याद किए हुए कानून या धर्म शास्त्र को कहते हैं जो आवाजो-मुरक्कब[३६] है । श्रुति आवाज़े-मुतलक होने के कारण स्वतः प्रमाण (मुस्तनद-बिल्ज़ात) है, और स्मृति याद की हुई वस्तु होने के कारण परतः प्रमाण (मुस्तनद-बिल्ग़ैर) है ।

श्रुति नाम सिर्फ ध्वनि का है जो सुनने में तो आता है, लेकिन लफ्ज़ (शब्द), हर्फ़ (अक्षर), लब (होठ), व लहजा (उच्चारण) की क़ैद-व-बन्द[३७] से आजाद है । स्मृति को किसी हद तक उस ध्वनि और कुदरती आवाज़ की नकल कह सकते हैं, जो ज़बान (जिह्वा), लब व लहजा और दाँत आदि की क़ैद-व-बन्द से बँधी है ।

—अपूर्ण—[शेषांश अगले अङ्क में]

३३-पवित्र ३४-प्रारम्भिक स्वतंत्र स्वर ३५-अमिश्रित ३६-मिश्रित स्वर ३७-बन्धन ।

एतक़ाद[१]

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

मेरा ज़िन्दगी ज़िन्दगी ही नहीं रही । अगर बक़ा[२] के दायरे में हूँ तो ज़िन्दा जावेद[३], और अगर उससे आगे तो उस के लिए जो चाहे वह लफ्ज़ इस्तेमाल कर लें । अगर ऐसा है तो उस में जब ठनकार पहुँचती है तो मुझे होश आ जाता है । यहाँ की ठनकार उसी की बेहतर सूरत में हो सकती है जो इस हालत से उबूदियत[४] हासिल कर ले, यानी अपने आप को इतना ढीला छोड़ दे जैसे कि मुर्दा-ब-दस्ते-ग़ुस्साल[५] । यह कैफ़ियत विश्वास से प्रारम्भ होती है । विश्वास उस एतक़ाद का हालत है जिसमें तालीम करने वाले की हर बात सही मालूम पड़े और दिल क़बूल कर ले । यहाँ तक मादियत[६] है । इस से वह चीज़ आ जाती है, जिस पर आइंदा इमारत बनाना है । गोया यह बुनियादी पत्थर है । यक़ीन[७] एक चीज़ ऐसी है जो ख़याल के पर्दा को चाक[८] कर देती है, और भाई बिना इस चीज़ के काम नहीं चलता । यह ही चीज़ हस्त[९] है, जिस में दाख़िल होकर इन्सान अपने आप को भूल जाता है ।

अगर हम को किसी पर यक़ीन है, तो एक चीज़ देखना आवश्यक है, जिस का सोहबत[१०] से पता चलता है, कि आया[११] यह शख़्स इस काबिल भी है कि उस पर यक़ीन किया जाये । अगर यह पता चल जाये तो फिर भाई, ज़रूर एतक़ाद जमा ले । ईश्वर को हमने देखा नहीं, उसकी कोई शक्ल नहीं और न कोई रूप । अतः इस यक़ीन के सहारे हम चल रहे हैं । हम जब किसी इन्सान पर यक़ीन लाते हैं तो क्या होता है —उसकी शक्ल सामने और ख़याल पसेपुश्त[१२] । अगर वह इन्सान ज़ाती हैसियत[१३] से चिपका

१ विश्वास २ लय की स्थिर अवस्था ३ शाश्वत जीवन ४ अत्यन्त विनम्रता की स्थिति ५ स्नान कराने वाले के हाथ में मुर्दा ६ भौतिकता ७ विश्वास ८ फाड़ देना ९ असल १० संगति ११ भला १२ पीठ पीछे १३ असल तत्व ।

हुआ है, तो हम भी किसी न किसी हद तक ज़रूर चिपके जाते हैं। अगर हम ऐसे इन्सान से निस्बत[१४] नहीं जोड़ते, तो असल से चिपकना सम्भव नहीं। इसलिए हर लिहाज़ से यह बात लाज़िम आती है कि जिसको हमने देखा है और अगर उसकी निस्बत असल से जुड़ी है, तो हम उससे सम्बन्ध या निस्बत ज़रूर कायम कर लें।

यह रूहानियत[१५] की पहली सीढ़ी है। अगर इत्तफाक से कोई ऐसा शख्स मिल जावे, जिसकी मिसाल हमारे गुरू महाराज ही हो सकते हैं कि जिनकी निस्बत इतनी मज़बूत असल भन्डार से जुड़ गई हो कि दोनों हस्तियों में तफ़ावत[१६] नजर न पड़े, तो भाई यह ग़ल्ती होगी कि ऐसे शख्स पर यक़ीन न लाया जावे। आप (गुरू महाराज) अब भी मौजूद हैं, और बराबर रहेंगे जब तक हर चीज़ का अपने असल में लय हो जाने का वक्त बिला कम-व-कास्त[१७] न आ जावे। अगर हम किसी इन्सान से जो इन्तहाई[१८] तरक्की कर चुका है, सम्बन्ध क़ायम करने के लिए मान लीजिए हम उसके साया[१९] से निस्बत क़ायम करते हैं तो क़रीब क़रीब वही मतलब हल हो जाता है। मैं तो अभी तक यही समझ रहा हूँ कि मुकम्मल[२०] इन्सान को पा लेना, ख्वाह किसी साधन से हो, ईश्वर को पा लेना है। अब मान लीजिये कि गुरू महाराज ऐसी हस्ती अगर निगाह के सामने नहीं है तो भाई जिससे काम बनने की उम्मीद हो और जो आप (गुरू महाराज) से वाबस्ता[२१] रह चुका हो, उसी से निस्बत जोड़े और यक़ीन करे, इस कहावत के अनुसार कि 'जहाँ रूख नहीं वहां अरण्ड रूख।'

एक एतक़ाद, भाई इस तरह का भी होता है कि 'अब तो सम्बन्ध जोड़ लिया, मुक्ति तो हो ही जायगी कुछ करने की क्या जरूरत है।' इसको भोंडा एतक़ाद कहते हैं। असल एतक़ाद का अर्थ यह है कि हम उस बुनियाद पर पत्थर जमा दें, जिस पर वास्तव में पत्थर हमारे सिखाने वाले ने अपनी तरक्की के लिए रक्खा था। यह एतक़ाद शाज़-व-नादिर[२२] होता है, और उस

१४ सम्बन्ध १५ आध्यात्मिकता १६ भेद १७ पूर्णरूपेण १८ अन्तिम सीमा तक १९ परछाँई २० पूर्ण २१ सम्बद्ध २२ लगभग अप्राप्य

क़िस्म के शिष्य ख़ाल-ख़ाल[२३] हैं। गो यह भी बुरा नहीं, न होने से जो कुछ हो जाये अच्छा है। मगर सब से अच्छी बात वही है जो मैंने अभी लिखी। इसके लिए लताफत[२४] की जरूरत है, और इसका नतीजा जल्दी ज़ाहिर होता है। जब हम ऐसे एतक़ाद पर बुनियादी पत्थर रखते हैं तो हमारे द्वारा अपने आप वही काम होने लगते हैं जिनको हैसियत और अन्दाज़ सिखाने वाले में है।

वह बुनियादी पत्थर जिस पर सिखाने वाले ने अपनी इमारत बनाई है, अपने में जिसने रखा, उसे कोई और धुन सिवा ईश्वर प्राप्ति के नहीं हो सकती। ऐसे लोग कम मिलते हैं। यहाँ तो या तो घर गृहस्थी की फ़िकर ज़रूरत से ज्यादा या फिर राजनीति के नक़्शे घूम रहे हैं, और यह फिक्र परेशान किये है कि यह कैसे दुरुस्त हो कि लोगों को चैन मिले। अगर उनको यह जवाब दे दिया जाये कि अपनी अख्लाक़ी[२५] हालत ठीक करो, ग़ुरबत[२६] में अमीरी का मज़ा देखो, तो शायद यह बात उनको पसन्द न आवे। क्या अपना सुधार, यदि हर एक को यह फिक्र हो जावे, काम की चीज़ न होगी? ख़िदमत करने को मैं मना नहीं करता, मगर ख़िदमत ऐसी होना चाहिए, कि अपने को फ़ायदा पहुँचे, और दूसरे का अख्लाक़ सुधरे। अख्लाक़ी कमी पूरी हो जाना गोया तबियत में समत्व (Balance) पैदा कर लेना है; और यह बगैर ईश्वर की कृपा के नहीं होती; और ईश्वर की कृपा तभी होती है, जब हम उस के अहल[२७] बनते हैं। खुदशिनासी[२८] कहा गया है। यह क्यों? इस लिए कि आप अभ्यास करते करते अपने असली मक़सद[२९] को जान जावें।

जो चीज़ ईश्वर ने हमें दी है। उसी को लेकर चलना पड़ता है, और फिर उसको उसी में फ़ना[३०] कर देना पड़ता है। इस वाक्य की व्याख्या की आवश्यकता है। अपनानियत और खुद खुदशिनासी कम कर देती है। इसके फिराव या घुमाव में असली ताक़त छिपी हुई है, और यही वह बुनियादी पत्थर है जिस पर हम को क़दम रखना है। किसी को गुरू मानने का मक़सद यही है कि अपने आप

२३-देखें २४-आनन्द २५-चरित्र-सम्बन्धी २६-ग़रीबी २७-पात्र २८-अपने को पहचानना २९-लक्ष्य ३०-लय।

को फेर कर उस पर क़दम रख दे। बखेड़ेपन का नाम रूहानियत नहीं। उसमें होते हुए उससे आज़ाद —यह असल चीज़ है। जब एक धुन सवार हो जाती है, तो दूसरी धुन आना मुश्किल पड़ जाता है। और यह नुक़्स (दोष) आम (सामान्य) है। इसी लिए लोगों की तरक़्क़ी नहीं होती।

जिस का जो हो रहा, वह भी उसका हो गया—यह क़ायदा कुल्लिया[३१] है। इस में exception नहीं। अब आप निगाहे-ग़ौर से देखें, अगर फ़र्दियत[३२] निगाह में हो तो ऐसा कौन शख़्स है कि जिसने ग़ुलाम को ठुकरा दिया हो, और ख़ास कर वह ग़ुलाम जो क़ैद-व-बन्द[३३] से आज़ाद हो। सेवा करना जिसका धर्म हो, और सेवकाई का ख़याल न हो; पूजा करना उस का धर्म हो और पूजा का ख़याल न हो; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में से हो, मगर उसके होने का ख़याल न हो; मज़हब और संस्था से ताल्लुक़ रखता हो, मगर उसको उसमें होने का ख़याल न हो। क्या यह मिसाल कहीं मिलेगी! ज़रूर मिलेगी, दुनिया ख़ाली नहीं। अपनी संस्था में ही मिसाल नक़ल करने लायक़ मिलेगी, जिसे इन बातों से आप बहुत कुछ हल्का पावेंगे। यह ज़रूर है कि किसी वक़्त कुछ चिन्ह दबे हुए उसमें भी मिल जायें, मगर उनको हल्का कहना ही पड़ेगा। क्या उबूदियत अर्थात् Submissive condition और Surrender की ऐसी मिसाल इस लायक़ नहीं कि उसकी नक़ल की जावे, यदि लोग उस की नक़ल जो हमारे गुरू महाराज ने अपने गुरू महाराज के साथ की थी, नहीं कर सकते? जब किसी की ऐसी हालत हो, तो क्या वजह है, कि रहमते-इलाही[३४] मौजज़न[३५] न हो। रहमत (कृपा) उसी को कहते हैं कि बिना पैमाने को जाँचे हुए एक दम गिर जाये। हज़रत मूसा पर जब तजल्ली[३६] नाज़िल[३७] हुई, तो पात्र (ज़र्फ़) का ख़याल न था। उनका ज़र्फ़ तज्जली नाज़िल होते ही जवाब दे गया था, और वह ग़श[३८] की हालत में बेहोश पड़े थे, और कोह[३९]-तूर

३१—ऐसा नियम जिस का कोई अपवाद न हो ३२—व्यक्तित्व ३३—बन्धन ३४—ईश्वरी कृपा ३५—प्रवाहित ३६—ईश्वरीय प्रकाश ३७—उतरना ३८—मूर्च्छा ३९—वह पर्वत जिस पर हज़रत मूसा ने ईश्वरीय प्रकाश का दर्शन किया था।

जल कर स्याह हो चुका था। यह इबारत मैंने इसी लिए लिखी कि लोग अब भी होश में आजावें। किसी की तारीफ़ करना मक़सद नहीं, बल्कि लोगों को उभारना है।

जब तक इन्सान कोह-तूर नहीं बनता, जज़्बात[४०] के झुलसने की ताक़त पैदा नहीं होती। तजल्ली वहीं नाज़िल होगी, जिसमें जज़्बात के झुलसने का उभार पैदा हो गया हो, यानी जिसकी कैफ़ियत ऐसी बन गई हो कि तजल्ली को मदऊ[४१] कर सके। दूसरे अर्थों में जो मरने से पहले मर गया हो, अपने जिस्म को ईश्वर की याद में ऐसा चूर कर दिया हो या याद की गर्मी से ऐसा झुलस गया हो कि व्यावहारिक दृष्टि में ज़िन्दगी के आसार[४२] मद्धिम पड़ गये हों। यदि ऐसा शून्य (Vacuum) बन गया हो उस मालिक की याद की गर्मी से, तो मुमकिन नहीं कि उस पर तजल्ली की असल सूरत की झलक न गिरे। ईश्वर भी चाहे तो उसको ताक़त नहीं कि इस चीज़ को रोक सके, क्यों कि इस के विरुद्ध करने से उसका कानून ख़त्म होता है और नापायदारी[४३] पैदा होती है। ये वह चीज़ है कि जिसने करली और जो उसमें काफ़ी तौर से सुलग चुका, मुमकिन नहीं कि वास्तविक अर्थ में उस मालिक को उसकी ख़बर न पैदा हो जाये। मगर भाई इस ख़बर के लिए बेख़बरी की ज़रूरत है। सुलगाव हमेशा याद से पैदा होता है, और कोई सूरत मालूम नहीं होती। रस्म के तौर पर अभ्यास करना केवल मरासिम[४४] को बढ़ाता है।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत।

४०—इच्छाएं ४१—आमन्त्रित ४२—लक्षण ४३—अस्थिरता ४४—रस्मी सम्बन्ध।

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत कर के ब्रह्म–विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र–व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किए जा रहे हैं, जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही हैं। पत्र सं० ६————सम्पादक]

परम पूज्य श्रद्धेय 'श्री बाबू जी' के
चरणों में सादर प्रणाम।

आपको बहुत दिनों से पत्र नहीं डाल सका हूँ, कृपया क्षमा कीजिएगा। अब तो यह दशा है कि पहले कुछ दिनों प्यारे प्रभु को दिन भर में एक, दो घटे तक भूल जाता था परन्तु, फिर याद आने पर बहुत अधिक बेचैनी होती थी और किसी काम में तबियत नहीं लगती थी। अब फिर दिन भर 'उसी' की याद करने से अब वह दशा जाती रही है, परन्तु जब से वह दशा गई है तब से क़रीब दस बारह रोज़ से हृदय में बहुत भारीपन लगता था, और Sitting लेने पर भी तबियत कम लगती थी। कल से मेरे प्यारे मालिक ने जैसी दशा कृपा कर के मुझसे अधम व साधन विहीन को दी है इस से मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके बताये हुए साधन से निश्चय ही मैं अपने अत्यन्त प्यारे ईश्वर को प्राप्त कर सकूँगा।

कल तो हृदय में भारीपन बहुत अधिक था परन्तु आनन्द इतना अधिक था कि बिल्कुल मस्त सा घूमा करता था। अब आज क़रीब तीन बजे से इतना प्रेम लगता है कि पैर भारी होते हैं। चलने तथा लेटने में भी एक दम बैठ कर बिल्कुल बेक़ाबू सा मालुम होता है। पूज्य बाबू जी! यह सब मालिक की कृपा ही है। बस आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ऐसे ही आनन्द में सराबोर रहूँ। मुझे त्रिभुवन में अपने आराध्यदेव जगदीश्वर में ही समा जाने के

अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं है। मैं अपने ईश्वर को संसार में सबसे अधिक प्रेम करना चाहता हूँ और कोशिश भी यही करता आ रहा हूँ। किन्तु मेरी यह इच्छा भी, जिस प्रभु के मैं अर्पण हो चुका हूँ 'उसी' को अर्पित है। अपना आशीर्वाद सदा मेरे मस्तक पर रखियेगा। पूज्य·····ने कल sitting दी थी।

आपकी दीन हीन सन्तान

··· ··· ···

(पत्र संख्या ७)

पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबूजी के
चरणों में सादर प्रणाम।

मेरा पत्र आपको मिला होगा—उसका उत्तर आपने पूज्य·····
·····को दिया था सो उन्होंने बतलाया था। आप मेरे पत्र का उत्तर देने की चिन्ता न किया करें, बस अपनी पावन कृपा–दृष्टि से मेरा उद्धार ही करने की कृपा करें।

मैंने आपको जो दशा लिखी थी कि परम कृपालु ईश्वर ने अपने प्रति मुझसे अधम को भी इतना प्रेम दिया, वह दशा फिर इतनी बढ़ी कि कभी कभी लेटकर लोटता भी था परन्तु फिर अपने को काबू करना पड़ा, परन्तु अब तीन चार दिन से तो हृदय बिलकुल खाली मालूम पड़ता है। अब भी पूज्य·····जब Sitting देते हैं उसके एक दो दिन फिर प्रेम मालूम पड़ता है। रोम रोम प्राण प्यारे ईश्वर के प्रेम में खड़ा हो जाता है लेकिन वह बात जो पहले थी वह नहीं है। अब तो यह दशा है कि अब बिल्कुल भूला सा रहता हूँ। हृदय बिल्कुल खाली सा लगता है मेरे पूज्य बाबूजी; मुझसे तो कोई साधना नहीं हो पाती है। मेरा मन तो कितना मलिन है, यह तो आप जानते ही हैं। आपके आशीर्वाद से जो कुछ थोड़ी सी साधना इस शरीर से हो जाती है उसमें दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो। मैं तो दरिद्र हूँ और मेरा ईश्वर ही मेरे लिए पारस मणि है। इस लिए मेरी अन्य कोई कामना ही न हो यही विनती प्रभु से है; एवं 'उन्हें' एक पल भर को भी विस्मृत न कर सकूं ऐसी ही आप कृपा करें।

आपकी दीन हीन सन्तान

.....

उस प्यारे ईश्वर की याद में मस्त 'उसी' के पास बढ़ता ही जाऊँगा। मालिक से प्रार्थना करूँगा, 'उस' के आगे गिड़गिड़ाऊँगा और पीछे नहीं हटूंगा, परन्तु आपके आशिर्वाद एव कृपा का मैं सदा भिखारी हूँ।

अब कुछ ऐसी दशा है कि तारीख··· को मैं डाक्टर को दिखाने··· ···गया था। उस दिन मेरे मालिक ने जो हालत मुझे दी और जो अब भी है वह बहुत ही अच्छी मालूम पड़ती है। उस दिन सवेरे की बस से गया था परन्तु ऐसी बेहोशी की हालत रही कि न तो दिन भर यह मालुम पड़ता था कि किसी सवारी में बैठा हूँ, न यह मालुम पड़ता था कि चल रहा हूँ और न आंखों से ही कुछ दीखता था। अजीब हालत थी। शरीर बिल्कुल फूल की तरह हल्का था और उसी दिन से बिल्कुल हल्की हालत अब तक है परन्तु बेहोशी नहीं है।

आपकी दीन हीन संतान

.....

(पत्र संख्या १०)

श्री बाबू जी का उत्तर

प्रिय·····

आशीर्वाद।

पत्र मिला–तबियत प्रसन्न हुई। तुमने जब अपने भारीपन का हाल लिखा था मैंने ईश्वर से तुम्हारे लिए प्रार्थना की। ईश्वर–विषय में मैं और तुम दोनों ही भिखारी हैं। उसकी जो मर्ज़ी होती है वही होकर रहता है। वह जिसको अपनी तरफ़ खींच लेवे वही कामयाब है। एक फ़ारसी कवि ने कहा है कि जिसका मतलब यह है कि "बिना तेरी मर्ज़ी के तेरे दर्शन नहीं होते"। अब दर्शन किसको कहते हैं और वह वाक़ई हालत क्या है और आम जनता इसको क्या समझ रही है? अगर मैं इसकी व्याख्या करूँ तो बहुत कुछ हो सकती है मगर वाक़ई में मैं इसकी व्याख्या उस रोज़ करूँगा, जब ईश्वर तुममें वह हालत पैदा कर दे। मैं इस प्रतिज्ञा से बहुत खुश हुआ। तुमको ईश्वर करे इसमें सफलता प्राप्त हो। ईश्वर करे

तुम अपने घर को उजाला करो। यही नहीं, ईश्वर वह समय लावे कि तुमसे दुःखी लोग फ़ायदा उठावें। ईश्वर तुमको अहंकार से बचावे। लोग कुछ ऐसे भँभेरे में पड़ जाते हैं कि उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की तरफ़ उनका झुकाव सही मानों में नहीं होता। हमें तो उससे प्रेम करना है जिसका रंग व रूप कुछ नहीं है। यह चीज जो तुम कर रहे हो और हम सब लोग कर रहे हैं, इस पर उसी का झुकाव और विश्वास पूरी तौर पर हो सकता है जिसको कि ईश्वर अब इस चोला छोड़ने के बाद दुनिया में लाना नहीं चाहता।

—तुम्हारा शुभचिन्तक
रामचन्द्र

❀ ❀ ❀ ❀

एक महात्मा नदी के किनारे बैठे थे। नदी में एक बिच्छू बहता जा रहा था। महात्मा जी ने बिच्छू को हाथ में उठा लिया। बिच्छू ने तुरन्त डङ्क मारा। महात्मा जी का हाथ कांपा और बिच्छू पानी में गिर गया। इसी प्रकार कई बार महात्मा जी ने उसे निकालने का प्रयास किया। और बिच्छू ने डङ्क मारा। इतने में महात्मा जी के गुरु आ गये। उन्होंने अपने शिष्य से इस व्यर्थ कष्ट–सहन का कारण पूछा। शिष्य ने उत्तर दिया, "जब बिच्छू अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, तो मैं अपना स्वभाव क्यों छोड़ूँ।

गुरु ने मुस्करा कर समझाया "अपने स्वभाव से बधे रहने के कारण बिच्छू निम्न कोटि का पशु है। अपने स्वभाव के प्रति आसक्ति भी बन्धन का कारण है, और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक। फिर तुम तो अपने विशेष स्वभाव के मोह में पड़ गए हो। मनुष्य के सामान्य स्वभाव में बुद्धि नाम की वस्तु भी है जिसका उपयोग न करना मालिक के प्रति कृतघ्नता है, क्योंकि उसी ने मानव को यह शक्ति प्रदान की है।"

—❀–++–❀—

इसलिए इस महान सत्य को हमने निगल लिया है। उसको चबाया नहीं है और वह हमारी चेतना में गलकर उसका एक अंग नहो बन गया है। शरीर तथा आत्मा का विवेक भी साधना के द्वारा ही आता है।

चाहे हम प्रवृत्ति–मार्ग पर चलें चाहे निवृत्ति–मार्ग पर, काम हमको लगभग सब एक से ही करने पड़ते हैं। मनुष्य भी प्रिय वस्तु को छोड़ना नहीं चाहता और यदि बलात् उससे वह वस्तु छुड़ाई जाती है तो उसके मन में एक अतृप्त इच्छा के रूप में वह प्रवेश करके व्याकुलता उत्पन्न करती है। छोड़ने का सुलभ साधन यही है कि प्रिय की अपेक्षा प्रियतर वस्तु की ओर मन को मोड़ दिया जाये। इस मोड़ने से मनुष्य निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर चला जाता है। प्रवृत्ति भी बिना निवृत्ति के सम्भव नहीं है। संसार में अनेक पदार्थ हैं। मन उन सबकी ओर दौड़ता है, परन्तु यह सम्भव नहीं कि वह उन सबको एक साथ ही प्राप्त कर सके। इसलिए मन को उन पदार्थों में से चयन करना पड़ता है। इस चयन करने में उसको कुछ पदार्थ छोड़ने पड़ते हैं ताकि वह अन्य आवश्यक पदार्थों की कमी को पूर्ण कर सके। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति एक रथ के दो चक्रों के समान हैं। एक के चलने से दूसरा स्वयं ही चलने लगता है, तथा एक के रुक जाने पर दूसरा भी रुक जाता है एवं मनुष्य की आत्मोन्नति की गति अवरुद्ध हो जाती है।

इस चयन करने में मनुष्य को निम्न स्तर की वस्तुएँ छोड़नी पड़ेंगी ताकि वह उच्चतम वस्तु को प्राप्त कर सके। इन्द्रिय–सुख बहुत स्थूल हैं। मन का सुख उससे कहीं सूक्ष्म है। तथा मन से भी सूक्ष्म बुद्धि का सुख एवं बुद्धि से भी परे आत्मानन्द है। साधना में जैसे जैसे मनुष्य नीचे से उच्च स्थिति पर उठता है, नीचे के स्तर की चीजों को छोड़ता जाता है तथा ऊपर की वस्तुओं को ग्रहण करता जाता है। ऊपर की वस्तुओं का ग्रहण भी केवल इसलिए होता है कि वह उनकी निस्सारता को समझ कर उन्हें छोड़ सके। इस तरह ऊपर उठते २ जब मनुष्य सब भौतिक परिस्थितियों से ऊपर उठ जाता है, तब उसके समस्त बन्धन कट जाते हैं, तथा उसको अपनी आत्मा में स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अत्यन्त आनन्द की अवस्था है।

—:❀❀❀:—

तुम्हें क्या दूँ भगवान ?

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

बालक मचल उठा, हठ करने लगा माँ से। "मैं तुझे क्या दूँ, अच्छी माँ ?"

"मेरे बेटे, मुझे कुछ न चाहिए। जो कुछ भी है पर्याप्त ही तो है।"

"नहीं माँ, आज यह न होगा। सदैव से तू यही कहती चली आ रही है। कुछ तो कह दे ? देख बँगाली, शुक्ला, सिनहा मेरे सभी साथी तो आज कुछ न कुछ अपनी माँ के लिए लायेंगे।

"किन्तु वे तो बड़े २ हैं, तू तो सबसे छोटा है, मेरा लाल।"

"तो क्या हुआ छोटा होने से ?"

"भाई, फिर कुछ आवश्यकता भी तो हो।"

"अच्छा न बता, मैं भी रूठ जाऊँगा। फिर देखूँ कैसे मनाती है तू।"

"अच्छा आ बताऊँ। किन्तु·····"

"किन्तु क्या, बोल न माँ !"

"भइया जो तू मुझसे कहता है सो भगवान से क्यों नहीं कहता ?"

"तो भगवान से क्या कहूँ, उसे भला मैं क्या दे सकता हूँ ?"

"यह उसी से पूछ लेना।"

"क्या पूछूँ, तू ही बता न मां ?"

"यही कि 'तुम्हें क्या दूँ भगवान'।"

"तो क्या वह बता देंगे ?"

"हाँ, अवश्य।"

"किन्तु मां जब तुझे ही कुछ न चाहिए, तो उसे क्या चाहिए ?वह तो सबको सब कुछ देता है।

"फिर भी उसे कुछ चाहिये, बेटा।"

"अच्छा तो मैं उससे अवश्य पूछूँगा। यदि उसने न बताया तो ?"

"अवश्य बतायेगा।"

"वह मुझे मिलेगा कहां ?"

"कहीं न कहीं तो मिलेगा ही।"

"अच्छा जाता हूँ। उससे पूछ कर जो वह कहेगा वही देकर

लौटूँगा । ऐसा ही आशीर्वाद दे मां ।"

"जा ऐसा ही हो, बेटा ।" मां ने सिर डाले ही उसके सिर पर हाथ फेरा । उसके नयन-कोरों में जल-बिन्दु आकर छुप गये थे, फिर कैसे उठाती नेत्र । उसका 'जीवन' अभी छोटा था। 'जीवन' ने चरण-धूल मस्तक से लगाई और चल पड़ा भगवान से पूछने । और विह्वल माता ! देख रही थी अपने 'जीवन' को अपने से बिछुड़ते, परन्तु फिर भी हृदय पर बज्र रक्खे । उसे स्मरण आया एक दिन ध्रुव की माता ने बालक ध्रुव को भेजा था गहबर बन में । किस लिए ? भगवान की अक्षय गोद में बैठने के लिए । और आज ? माता खड़ी थी, उसका 'जीवन' जा रहा था भगवान को कुछ देने ।

❀ ❀ ❀ ❀

अब तो सब मार्ग टेढ़े मेढ़े ही दीखते हैं, चौरास्ते पर खड़ा 'जीवन' सोच रहा है । यहां तो कई मार्ग हो गये हैं । किस मार्ग पर भला वह जाये । घर से सीधा एक सरल मार्ग आ रहा था उसी पर वह चला आ रहा था । ऐसे कब तक वह खड़ा रहे । चल पड़ा वह एक मार्ग पर । थोड़ी दूर चलने पर देखा एक स्थान पर भीड़ एकत्रित है । झांझ, मृदङ्ग, मजीरे तथा करतालों की ध्वनि से आकाश तथा समस्त दिशायें मानों गुँजायमान हो उठीं थीं । सब मस्त थे । मंच पर गेरुआ-वस्त्र धारी साधु कह रहे थे "हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे ।" फिर सब वही लाइन दुहराते । अच्छा समा बँधा था । जीवन को भी अच्छा लगा । बालक था, लय पसंद आ गई । 'बोल सिया वर रामचन्द्र की जय' की ध्वनि के साथ साधु बाबा ने कीर्तन समाप्त करके नेत्र खोल दिये । उसने सुना बाबाजी कह रहे थे "बड़ा अच्छा कीर्तन हुआ । आज भगवान भी वाह वाह कर रहे होंगे ।" बालक जीवन के मन में उत्सुकता जागी। वह धीरे से आकर महात्मा जी के पास बैठ गया और जिज्ञासा भरी वाणी में पूछा, "महात्मन् क्या भगवान यहीं कहीं पास में ही रहते हैं ?"

बाबाजी मुस्कराये, सिर पर हाथ फेरा । "बेटा, भगवान के नाम में ही भगवान रहते हैं ।"

किन्तु बालक की जिज्ञासा उनके उत्तर से शान्त न हुई ।

"कुछ दिन मेरे आश्रम में रहो, बेटा ! फिर तुम्हारी समझ में भी आ जायेगा ।" जीवन ने स्वीकार कर लिया ।

वह वहीं खाना खाता । आश्रम से ही उसे महात्मा ने रंगीन वस्त्र दिला दिए और उसे राम नाम-मन्त्र दे दिया । बाबा उस की मोहनी छवि और जिज्ञासा पर मुग्ध थे । उसे उपदेश देते, साधना बताते । वह भी धुन का पक्का था । मंत्र की रट लगाता तो लगाता ही जाता । रात्रि में जागकर कुछ अध्ययन जो बाबाजी ने बताया करता, तथा उपदेश और कथा वार्त्ता में भी पीछे न हटता था ।

दिन व्यतीत हुये, महीने और वर्ष व्यतीत होने लगे । क्रम में सिवा तेजी के कमी न आने पाई । अब वह किशोर भी तो हो रहा था किन्तु वय के साथ ही बुद्धि और जिज्ञासा की वृद्धि होरही थी । उसे मां की छवि, उसका वाक्य 'जो तू मुझसे पूछता है भगवान से क्यों नहीं पूछता बेटा ? विस्मृत न होता था । उसे देना जो था ।

अब उसका मन आश्रम से उचाट होने लगा था क्यों कि उस की जिज्ञासा की पूर्ति न हुई थी ।

"बेटा इन दिनों अनमने से क्यों दीखते हो ?"
"मुझे देना जो है बाबाजी ।" उसने व्यथित स्वर में उत्तर दिया।
"किसे दोगे ? क्या दोगे ?"
"भगवान को दूँगा; जो वह माँगेगा ।" संक्षिप्त सा उत्तर था ।

बाबाजी हँसे, "तो मुझे न दे दे बेटा ।" बाबा को उससे सच-मुच स्नेह था ।

"तुम क्या भगवान हो बाबा ?" उसने चरण पकड़ कर कहा।
"मुझ में भगवान हैं, मैं भगवान नहीं बेटा ।" जीवन चुप था क्या कहे । बात समाप्त हो गई ।

❀ ❀ ❀ ❀

और उसी रात·····

वह आश्रम त्याग चुका था। आश्रम के वस्त्र आश्रम में छोड़ दिये, बस एक रंगीन धोती अवश्य तन को ढांके थी हृदय में कसक थी और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित थी। इसी अवस्था में चला जा रहा था किशोर 'जीवन'। कहाँ जाए अब ? किसके पास जाये, अब ? इन्हीं विचारों में लीन सा चला जा रहा था। प्रातः होने को आया—शीतल मन्द समीर मन्द २ गति से बहकर मानों वह थक गया है यह जता रहा था, और सच ही उसकी गति मन्द हो चली थी। ऊषा की अरुणाई मानों उसके नेत्रों के लाल डोरों से झांक कर कह रही थी कि वह रात्रि भर का जगा हुआ है। एक स्थान पर बैठकर वह श्रम मिटाने लगा।

अब मार्ग चालित हो चला था। वह भी पुनः चल पड़ा। उसे चैन न था। मार्ग छोड़कर छोटी सी पगडन्डी पर चल रहा था। चलते चलते एक कुयें पर कुछ मनुष्यों को जल भरते देखकर वह ठिठका। आशामिश्रित दृष्टि से एक से पूछा, "भाई कहाँ से आये हो ?"

"वह देखो" युवक ने दाहिनी ओर एक लहराते झंडे की ओर संकेत करके कहा। "वह हमारा आश्रम है। हम वहीं से यहाँ जल लेने आते हैं।"

'जीवन' की उत्सुकता अधिक बढ़ी। "क्या भाई मुझे आश्रम में अपने गुरु के पास ले चलोगे ?"

"अवश्य, चलो चलें।" बस वह उनके पीछे २ हो लिया। आश्रम पर पहुँच कर उसे गुरू के सम्मुख ला खड़ा किया।

"क्या चाहते हो बेटा, कैसे आये ?" महात्मा ने पूछा ?

"मुझे तो भगवान चाहिये, महात्मन्।"

महात्मा हँसे। "बेटा, जरा सोचो। जो वह है, सोई तू है।" जीवन चौंका

"नहीं महात्मन्, ऐसा न कहिये। मेरी आशा पर तुषारपात न कीजिये।"

"भला बेटा क्या शरीर और प्राण दो पृथक वस्तुयें हैं। क्या जलसे शीतलता पृथक हो सकती हैं ?"

"नहीं, महात्मन्! एक होते हुए भी हमें उसमें प्रवेश करने के लिए पृथक मानना होगा। मेरी आत्मा यही पुकारती है। मैं अपने वश का नहीं रहा। मुझे देना है।"

बस चरण-स्पर्श कर वह लौट पड़ा क्योंकि वह जिज्ञासु था और वे पूर्ण थे।

वह बह चला अपनी लगन में और चलता ही गया। न भूख से पेट में चूहे कूदते थे और न प्यास से गला सूखता था। उसे धुन थी। वह धुनी तो जन्म का ही था, उसकी माता यही कहती थी। अब वह पुनः मार्ग पर चल रहा था। 'भगवान तुम कहाँ मिलोगे ? कहां ढूँढूँ ? और तुम्हें क्या चाहिए ? बता दो न !' यही बड़बड़ाता चला जा रहा था।

❀ ❀ ❀ ❀

संध्या हो चुकी थी। वायु में शीतलता आने लगी थी। वह एक वृक्ष के नीचे विचारों में खोया सा बैठ गया था।

"क्या चाहिए, युवक ?" अब वह युवक हो चला था। "भूखे दीखते हो, चलो भोजन करो तथा विश्राम लो।"

ऊपर मुख उठाया तो देखा एक दुबली, पतली कुछ गौर वर्ण भव्य मूर्ति! एक महापुरुष एक छड़ी लिए सम्मुख खड़े थे। चिपका पायजामा तथा मुख पर छोटी दाढ़ी थी। युवक ने नेत्र ऊपर किये, तो देखता रह गया। वह भव्य-मूर्ति मानों उसके हृदय-पटल पर अंकित हो गई।

"हाँ सचमुच मैं भूखा हूँ।"

"तो चलो, मैं भी कचेहरी से घर जा रहा हूँ।" वह साथ हो लिया। 'आश्चर्य है यह महान-मूर्ति महापुरुष कौन है ? इनके दर्शन मात्र से मेरी यह प्रचीन जिज्ञासा क्यों सोई सी जा रही है ? मेरा मन क्यों नहीं व्यथित होकर पुकार रहा है कि 'मुझे भगवान चाहिए।' वह तो लीन हो गया था। उसे यह तक विस्मृत हो

चुका था कि कोई उसके साथ है। न जाने कितने मार्गों से होता हुआ, जाने कितनी मन्ज़िल तै करके यहां आया था।

कोठी आ गयी। वे भीतर गये कपड़े बदल कर बाहर बैठक में आए। उसके हाथ मुँह धुलवाये, भोजन कराया। फिर कहा, "भाई सो जाओ बहुत श्रमित से दीखते हो।" और वह सच ही तो सो गया था। जब नींद खुली लगभग रात्रि के बारह बज रहे थे, परन्तु वे महापुरुष अब भी जाग रहे थे। 'जीवन' उठा और नीचे फ़र्श पर उनके पलंग के पास बैठ गया।

"युवक, तुम्हारा नाम ?"

"मुझे 'जीवन' कहते हैं।"

"क्या चाहते हो, भाई ?"

क्या बताये अब जीवन ? किन्तु फिर भी स्मृति पर जोर देकर उसने कहा "भगवान।"

उससे क्या काम है, भला तुझे ?"

"उसे मुझे देना है, मां की प्रसन्नता के लिए।"

"क्या दोगे ?"

"जो वह मांगे।" संक्षिप्त सा उत्तर था।

अबकी बार वे मुस्कराये, तो मानो 'जीवन' नव-जीवन पा गया।

"अच्छा रात्रि बहुत गई अब सो जाओ।" वह भी बालकों की भांति चुपचाप लेटकर सो ही तो गया। उसके मन की सारी चंचलता एवं अधीरता उन दिव्य पुरुष के दर्शन से शान्त हो चुकी थी। यही नहीं, उसका वह प्राचीन प्रश्न स्वयं उसी में लुप्त सा होने लगा था। क्यों ?

यह पहेली थी जो उन महापुरुष के बुझाये ही बूझी जा सकती थी।

प्रात: होने वाला था। वह स्वप्न देख रहा था। वही भव्य मूर्ति, और उनके चरणों में सिर रक्खे था 'जीवन'। उसके विचार मानों उससे प्रश्न कर रहे थे।

'क्या चाहिए जीवन ? भगवान ?'

'हां, मन ने कहा। 'किसके चरणों में बैठा है ? किंचित मुख ऊपर करके देख तो ले।' वे अब भी मुस्करा रहे थे। अचानक ही जीवन ने मुख ऊपर उठाया; और हठात् उसके मुख से निकल पड़ा, वह गिड़गिड़ा उठा, 'तुम्हें क्या दूँ, भगवान ?' किन्तु इसका उत्तर

उन राजराजेश्वर, योगेश्वर के हृदय में बैठी मुस्कराती उसकी ही मां दे चुकी थी, 'जो तेरे पास हो।'

और उन्हें जो लेना था वे ले चुके थे।

❀ ❀ ❀ ❀

स्वप्न भंग हो गया। 'जीवन' आंख खोले भौचक्का चारों ओर निहार रहा था। कहाँ था उसके बचपन से अब तक का वह प्रश्न! उसकी हृत्तन्त्री का एक एक तार उस प्रश्न का उत्तर पा चुका था।

—:❀❀❀:—

॥ अशेष का परिचय ॥

[श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव एम० ए०]

गीत तुम्हीं, संगीत तुम्हीं,
पा तुम्हें नहीं कुछ शेष,
शत्रु तुम्हीं औ मीत तुम्हीं,
सब में तुम ही सर्वेश !

कभी गीत बन कर तुम लहरो,
कभी मौन बनकर तुम ठहरो,
जग को मोहित करते बिचरो,
वैभव का धर वेष !

पर दुख में तुम भुला न पाते,
अपनी ममता छिपा न पाते,
शक्ति शांति बन करके आते,
ले जागृति सन्देश !

दुख द्वन्द्वों को जो लेता हर,
सुना शंख का मधु जागृति स्वर,
झरे ज्योति सुख का नव निर्झर,
आया आज अशेष !

———

॥ भजन ॥

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी, 'सन्ध्या')

जोगिन चली पिया के देस ।
रंग जु बह गया राग करत ही, प्रीति जु बदलो वेष ॥१॥
अँसुअन—जल अनुराग सींच के, प्रेम—बेल दई बोय ।
विरह—ज्वाल जागी अंतर में, झुलसे सकल कलेस ॥२॥
कागद कोरो बाँचत बाँचत, नैना दीन्हें रोय ।
सब जग, पीर—नीर बहि डूबो, रहि न गयो कछु शेष ॥३॥
अञ्चल—रंग सों माँग सँवारी, बिन्दु—सुहागिन देय ।
प्रिय—छवि—कजर—रेख, देखन हित अविनासी योगेस ॥४॥
मोतिन—माला कंठ विराजत, कँगन—सुमिरनी पोय ।
अलख जगावत 'सन्ध्या' डोलत, प्रियतम के सन्देस ॥५॥

—:❀❀❀:—

★ प्रार्थना ★

तवानुभूतिसंभूत प्रीति कारित दासताम् ।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा ॥
—श्री रामानुजाचार्य

[हे नाथ, कृपा कर मुझे वह दासत्व (कैंकर्य) प्रदान कीजिए, जो तुम्हारे साक्षात्कार से उत्पन्न प्रेम का परिणाम है । इस के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई गति ज्ञात नहीं ।]

[Lord, kindly grant me thy service which follows the love born of my experience of Thee; I know of no other course.]

Realization- Ways and means

(Shri Ram Chandra ji, president S. R. C. Mission)

I have been longing so far to get a man who may be able to see things as they really are. The nature as it is befitting human body may be read by him. The sun as it shines may be known by him. The sunshine as we see may be marked by him as to whence it comes in its real sense. God and gods, when we speak, make the difference themselves. Comparison and contrast become the necessary instruments to know the reality which is displayed in the passage created by speaking these two words God and gods. Now compare God with gods and define God yourself. If you see the capacity in gods in creating such a universe even then there remains a differentiation; and if you find this point in the negative in them, I think gods would not come under the definition of God. A man loving his master too much, selling himself to him altogether, absorbing himself in him in toto, will see the same thing all over. Similarly a man while getting absorbancy in One and the Real thing will see Its manifestation throughout; because, when every rib of thought is mingled with the Real current, one will feel Reality coming out with these things. Absorbing in Reality means that one should not feel anything in him. He loses the feeling of his body, mind, soul etc. This is the condition of Real God. Limitations, however, remain to some extent and that is due to the knot which is created by the force of the will to keep the things in their real forms. If these things are rem-

oved the world will not exist. Untied will it be; but in the last run when Zero will feel the manifestation losing its feeling power. So the manifestation will remain all over but no limitation created by the chief knot. If one acquires that stage having ones body, he will witness the same scene. It is possible for the Yogi of the highest standard to see the same thing now if he comes in the naked form just as he ought to be. It is matter of galling insult to see the thing when they are not witnessed with the heart–eye. One who sticks to the principle of ADWAITA in the beginning he sees unity in diversity in its crude state. Had it been the case of any of you this sort of question would not have arisen. It is a voluminous subject but I have discussed it in outline. Before coming to the stage of Prime Minister in India if a man thinks himself and writes himself to be so, decide yourself as a Judicial Officer what section of the penal code will apply in his case.

A man is born today. He is developing day by day. His senses are coming to the standard of development gradually. Time is coming for him when he will ripen in wisdom and folly. Suppose now he has come to the point when he has to decide which way he has now to adopt. He comes across a man well versed in Indian philosophy–Dwaita, Adwaita and Vishistadwaita. He talks with him, who lays an impression on him that the world is the manifestation of God. He understands it, believes it, and comes to the point where he ought to have come after coming to its real stage. Now, as he was impressed by the discussion, he will try to impress others by

the same discussion. He will study the subject, speak extempore, impressing upon the public the same thing which he had acquired with no lobour and pain. What will be the practical result ? Practically nil.. He will only understand just as a man sees wheat for the first time and he calls it as such. If you ask him the taste he cannot describe. Generally we see the same thing everywhere.

There seem to be contradictions in the Vedas apparently. Six schools of philosophy is the result. Everybody according to his reach says something or the other. Manu says that only that part of Vedas which agrees with reason is the real Veda; and many of our philosophers have taken this view. Of all the scriptures in the world it is the Vedas alone which declare that the study of Vedas is secondary. The real study is that by which we realise the Unchangeable; and that is realised neither by reading nor by believing nor by reasoning but by super--conscious perception. Even if it is gained in a thorough state, one still requires to go on and on in order to reach the shore of the ocean. Tasting the breeze for some time he will further push himself inside the infinite ocean gaining thereby and tasting thereby the real state of everlasting peace and happiness. No suffering whatever it might be will present its contrast. If you analyse suffering, you will find the crude form of happiness. You can call the same thing in its place as either suffering or happiness. What idea do you form when I say these two things ? It shows clearly that they are only the forms or the shadow coloured by our own thoughts. Happiness and sorrow are

purely subjective forms. If you become colourless, you would not be colouring the surroundings. Let us take an example.

You would have heard the stories of ghosts. They may be imaginary. One may fear them and others may not. Why is it so ? One who has made the impression deep in one's heart that it is something which can harm one's self, will begin to harm himself through the ghosts. Similarly if we think Maya as a ghost, we will begin to harm ourselves in its light as long as we fear it. How wonderful ! We steer our boat on the glossy surface of 'MAYA' which is stretching its both arms to take us in its lap and present us to our Master. Surely if there had been no work of Maya, we would not have been in this world at all. The thing which brought us in our form is not to be cursed but we should utilise it properly. When we see the ugly sight we become ugly. When we see the bright side we become brighter.

RAJ YOGA teaches us the method to be identically the master of the real life. If one makes up ones mind to taste the nectar of real life, no power whatever, (Maya or anything) can check him off from his determination. We do not say that one may keep aloof from Maya, but that if one exercises oneself to be one with Him then the problem of life will be easily solved.

Generally the peole entangle themselves in some kind of taste or the other. For the learned person mental pleasure becomes the chief aim and object. In spiritual phase these things depart, so that one

may be able to appear before Him in the real form; that is the process for the beginners. If a man comes off having got rid of these coverings, I guarantee he will feel the thing at the first stroke. The form which the Abhyasi takes, changes and comes to naught very soon. This is the thing required for the Abhyasi to attempt at first. When I had been to my master, I had been blinded of all these things at the first sight. I kept off the book as the useless thing; I was interested in him alone. The world was dark to me due to the interest which a man must have while entering this sort of life. Repeatedly coming to this world and enjoying worldly pleasures never end as long as you welcome them. If I ask anybody to prefer this kind of life, then he will question me like you that this is not the only thing to be pulled on in the drama of life. I also say that this is not the only thing to be gained. Material world and the spiritual one should go side by side equally glittering. We should soar with both the wings if we want to succeed. It is the vague idea of the people in general that God is to be searched in the midst of forests. My idea is that He should be searched in the midst of heart. I want persons like the Spartans who liked to come 'with shield or on shield' and this thing requires courage; and one who has got it, is successful to know this science which is also an essential part of human life.

My experience in spiritual life, whatever befel to my lot, is matured. You may call it an ill-luck because I have not tasted the accuracy of many things existing in the world. Another proof of being

called it to be so is that I have become quite dumb while putting myself at the feet of my master. All miseries of the world passed away at his holy sight and no trace of worldly life is left in the mind, and I was seeing the ocean of bliss on all sides. That was all due to my faith and devotion to him; of course his ability was a component factor. I was rather lost in myself under the influence of the Divine Current that was running into me from the Heart of my supreme guide.

All that I have said above effected greatly in knowing him and him (master) alone. You may ask me whether God was not near me ? I would definitely say in its answer that that was the only relationship between me and him. It is but natural with the Abhyasi (Shastras say know the Guru as Brahman) to feel so because as Swami Vivekananda puts it, "When we try to think of God as He is in His absolute, perfection, we meet with miserable failure, as we are limited and bound by our present constitution to see God as man". It is indeed a childish argument that it is blasphemy to regard man as God.

You start from dualism and reach Adwaita automatically. When you are lost in it, there the reality dawns. This is, however, my Anubhav and experience. Go on and on still.

Dear Mr.....it is the practical life that is worth having for. Reading and writing are of no avail. Love, faith, devotion and self-confidence win the race. The society of one free from all bondages amounts much. If you are bound to one pillar and

your disciple to another, how can you release him ? If you are really in quest of God then please seek always the adept in this science. Neophytes are dangerous.

Apart from the views which I have enumerated above I would suggest the easiest course to you for making the subject clearer still. Please come to me for some time; and I assure you that you will yourself realise clearly what you want me to explain. It adds to my pleasure if some body asks me such questions; but my experience tells me that answers to such querries are generally thrown out in the waste-paper basket. In such cases my time and labour are altogether wasted, which results in my disappointment.

—From a letter to an inquirer.

—:❀:—

Somebody inquired of an aspirant of Yogic Sadhana about the system of Sadhana, and said, "I can not have faith on any body unless I have seen some miracle performed by him"

Both were walking about in the market place; and by the side of the road, there was a juggler playing his tricks at the tune of his flute.

The aspirant pointed towards the juggler, and told the inquirer, "Then, there remains nothing for you to search about. There, go and prostrate at the feet of your Master ! Amen !!"

Drowning Man & His Helper

(Shri Raghavendra Rao, Gulbarga, Mysore)

A friend of mine told me the following story: Once a man was caught up in a strong current of water. A bear was also similarly caught up in the same current, and approached the man and caught him. The poor fellow began to struggle with the bear. For an onlooker it appeared as if a drowning man was struggling with a woollen blanket. Accordingly some fellow from the bank shouted to him, "Leave off struggling with the woollen blanket, and then you can safely float towards the bank." But the poor fellow shouted back, "The blanket has caught hold of me, and it does not let me go."

Whenever I listen to the lectures of the Swamijis in our country, who exhort us to renounce the world and become like them, I am reminded of this story. I feel like asking the venerable speakers to come closer to us and help us to extricate ourselves from our entanglements. But I keep silent because I find that whereas we are entangled in loose threads, they are more firmly bound in iron chains, and I sympathise with them.

One who wants to help others must first help himself, and then acquire sufficient power to help others through transmission. This power of transmission is a rare gift. It is difficult to say how it is acquired. It is only the person of the highest calibre who can have command over it. It is a very high yogic attainment bestowed upon some special personality, whom the Divinity requires to do some particular work in Nature.

Through this Yogic transmission (PRANAHUTI), the Abhyasi's inner complexities are removed. The aspirant finds, in a comparatively short period, that almost all his entanglements are sufficiently loosened; and also he finds himself comparatively more free. It is only when the suffocating oppressions are removed that one should think that his training is proceeding on right lines. If, on the contrary, one feels, after practising a certain method prescribed by some so called guru, that he is growing more and more mechanical or that he is developing fanaticism, bigotry and aversion towards others, or that grossness and heaviness are increasing in him, he should immediately submit such report to his guru and request for rectification of the same. If the guru is unable to rectify or if he procrastinates, the duty of the Abhyasi, in his own interest, is to leave off the practice as well as the guru and seek for a better guide and a better method. It is a foolish and childish superstition that one should not break off from his guru even if he finds out that his guru is an imposter and a rascal.

Now let us return to the subject of the drowning man caught by the desperate bear. The first necessity of such a person is to free himself from the fierce clutches of the bear, and the second one is to save himself from drowning. Without a helper it is impossible for him to save himself. Hence it is

imperative that he should cry and shout aloud for help and emit groans of anguish and pain. If such craving develops in an aspirant the Lord, out of His infinite grace and mercy sends a helper to him--nay He Himself will come to him in the form of Guru. Now, again, it is the first duty of the helper to kill the bear, or remove the immediate obstruction. If the helper is unable to do so he can not help. The helper must posses sufficient strength. If the Guru has got the power of "PRANAHUTI" at his command, he can remove the obstruction by his will--force. Normally it results in weakening the downward tendencies of the mind of the Abhyasi, and in turning his attention upwards towards That which he has to attain permanently. These two accomplished properly will give the drowning man a chance to try to cross the river by adopting the method of floating. But as this drowning man has already become very tired and exhausted and is relying solely on the helper, it becomes the duty of the helper to teach him how to float or to offer himself as a float to the drowning man.

To offer oneself as a float to a drowning man is again a matter that requires the necessary capacity and lightness. It is only the Guru of the highest attainment who is firmly established in the Subtlest (सूक्ष्मातिसूक्ष्म), who may offer himself as the float. Great Saviours like Gautama Buddha, Jesus Christ, Prophet Mohammed, are the examples of such floats Even in the present day one may come across such a float, but it is very difficult to recognise him.

Then comes the problem of learning and teaching the art of floating. Two things are absolutely essential. The first essential thing is that the helper should be an adept in the art of floating and the second thing is that the helper should be able to remove the exhaustion and fatigue of the drowning man by constantly giving him support. For this also only the Guru who is liberated and who is a man of realisation and who is well versed in the art of training the abhyasis to tread the path of spirituality can be relied upon, and none else.

Lastly, let us consider the art of floating, viz the method of spiritual practice itself. Any method of teaching, in order that it may be best suited for the attainment of the objectives aimed at, should necessarily be easy, simple, and natural. It is only the natural way or the Sahaj Marga which can answer the above specifications. The ease, simplicity and naturalness of this system are obvious. Its efficacy can be known only when one "eats the Pudding."

× × × + × × ×

Once in a gathering of abhyasis, the efficacy of surrender as a method of Realization was being discussed.

An entheusiastic aspirant described as devotion the essential constituent of surrender.

The master intervened, "No doubt devotion and surrender are closely connected. But sometimes an aspirant gets attached to the pleasure derived from devotional attitude. This becomes selfish devotion and has nothing to do with true surrender. This form of devotion is itelf a cause of bondage, and it must be guarded against. However, devotion to the Real, or to one absolutely merged in It can never go wrong."

Spirituality

(Shri Ishwar Sahai, Lakhimpur-Kheri)

The problem of world peace is almost in every mind and the best brains of the world are at work to bring it about for the welfare of mankind. Material means such as political security, social and economic prosperity may, to some extent, be helpful in bringing about universal peace, but the real approach to it can be made through moral uplift of mankind in general, and that is the scope of religion. Thus religion can contribute a good deal to the cause of world peace. There can realy be no peace without, unless there is peace within. For this we have to cultivate our mind individually and collectively to develop the condition of peace internally. Outer circumstances and environment, no doubt, are helpful to some extent, but the real solution comes from within; and ultimately that is the real source of human welfare. The welfare of human being may be classified under various heads such as social, political, economic etc. But for the one directly connected with religion, it is the spiritual welfare of man that is most important.

There are numerous religions in the world, each with its particular characteristics. The highest ideal too, presented by different religions is often different. It is true they all tend towards God in some form or the other, but their conception of God not being the same, they sometimes differ widely from one-another. This sometimes leads us to rivalry and

prejudice which are the worst poisons for a religious life. Now God, the Almighty is as it ought to be, the final approch of a true religion. The religion sets for us a path to walk on, in order to reach our goal. It brings a sort of contentment to our heart and we feel some pleasure in it. The result is that we are attracted towards it and gradually our attraction develops into sacred attachment with the Ideal. We begin to feel more and more attached to Godly thoughts. It gives us some mental joy or pleasure of heart. We feel happy as if some of our heart's desire is fulfilled to our entire satisfaction. The feeling though momentary at first appears again and again at intervals. But for the rest of the time we find ourselves as usual, amid entanglements of worldly thoughts, which create worries and troubles to our mind. We are so to say merged in the ocean of worldliness where we see occasional sparks of divine light, which offer temporary consolation for a moment.

Still we go on along the path with firm and steady steps.The sparks of light grow frequent and longer in duration. The state of inner joy grows on steadily; and we say that we feel 'Anandam'. At this preliminary stage, the 'Anandam' felt by us is of a lower level or in its crudest form. Still it contributes to some extent to our ultimate welfare. Our attention towards the object, we adore, grows deeper and deeper and we find ourselves more closely attached to the Divine thoughts with the result that other things begin to grow dimmer to our sight. The

importance of worldly objects becomes lesser in comparison. Our progress along the path continues unabated so long as we stick to it with faith and sincerity. Divine thoughts begin to take deeper roots in our heart and worldly ideas which are the cause of our entanglements begin to lose their hold upon us.

This is the beginning of what is known as Vairagya (Renunciation). It is a mental condition in which we feel that everything of the world has lost its charm and our attention is diverted from them to something higher or supernatural. We feel inwardly convinced of the changing and transitory character of the material world and we fix our eyes on 'That' which is the cause and which is unchanging and eternal. Vairagya in true sense means nonattachment with all material objects, we are concerned with, and not the non-possession of things. It is in no way essential for us to desert our home and hearth bidding farewel to wife and children and retire into the forest to lead the life of religious mendicancy. The condition of vairagya develops automatically in an Abhyasi's mind as he marches along the right path with faith and earnestness. At this stage destructibility of things the true character of material objects--is revealed and our attachment with them ceases altogether. Our eye is now fixed firmly on the Almighty which is unchanging and eternal. It does not matter whether we lead a worldly life among friends and relations, possessing things of common necessity, or whether

we lead a secluded life among beasts and birds possessing but little. Thus a house--hold life is in no way a hinderance in the way of true Vairagya. In that case all our thoughts and actions, pertaining to worldly matters will be guided, not by any undue attachment with self or others, but purely by a sense of duty towards God. Duty for duty's sake is the highest form of devotion. To serve and provide for the necessities of the few whom God has entrusted to our care is a part of Divine duty; as such we stand guilty if we fail therein.

This, when acquired, may be considered as a great achievement and a source of spiritual welfare to man. Thus we have now emerged out of the ocean of worldly entanglements and dived down into the water of Divine thoughts where the worldly matters now appear to us like sparks, attracting our eyes for the time, according to necessity. It means we are gradually getting away from matter. Our material or gross form of existence now transforms into a finer form and we enter the life of spirit. We begin to acquire Godly attributes. Purity, piety and peace become important factors of our life. We remain absorbed in Divine thoughts for most of the time. We are every moment devoted to the Almighty in thought, word and deed with pure love and devotion. It brings us to a state of 'Anandam' which is finer and superior. Still we go on in our pursuit intensifying our efforts to imbibe more and more of the Godly qualities. Peace and tranquility now grow predominant within us.

But matter does not end here. Much remains still to be achieved. So far we had in our view, God, the omnipotent and the Omniscient in Hindu Philosophy He is called Ishwar (The Creator) and is conceived of as 'Saguna' (or having attributes). Our system of 'Yoga' goes still beyond to the idea of God as NirgunaBrahma (devoid of all attributes). It is much higher than the conception of God as Saguna, hence a good deal beyond the scope of religion. Yogaphilosophy put it thus, God at this lower level is the object of worship and may be termed as the God of religion. Henceforth He is not ordinarily termed as Ishwar but as Brahma. Vedas speak of numerous stages of Brahma too, extending from the Nirakar (formless) notion to the Absolute form or the causeless state devoid of all power, activity and even consciousness, 'The Centre' as it is termed in the 'Efficacy of Rajyoga' Thus, for still higher approach we have to rise above the level of religion and take up the path of spirituality To quote the words of my Revered master "Religion is only a preliminary stage for preparing a man for his march on the path of Freedom. When he has set his foot on the path, he is then beyond the limits of religion. The end of religion is the beginning of Spirituality; the end of spirituality is the beginning of Reality and the end of Reality is the Real bliss. When that too is gone, we have reached the destintion. This is the highest mark which is almost inexpressible in words".

Now we proceed along the path of spirituality. The idea of worship, so lovingly cherished by us

falls into background and devotion assumes a changed aspect. We begin to think of the lor das nothing different from us. Feeling of sameness with God begins to develop. It brings to our mind the idea of Negation. All our belongings in the form of numerous coverings of Sanskars, Maya, Egoism etc are all cast off and our existence assumes the finest form of existence. The idea of oneness begins to grow predominant. We fix our eyes on it and proceed on in right earnest. In course of time we acquire the state of perpetual Bliss, which now brings us to the very threshold of Destination. But so long as we are conscious of our condition of Bliss, we are in fact still short of the mark. When the very consciousness of Bliss is completely lost, then nalone we have merged into the Eternal State in the true sense. We are now one with God, the Absolute. These are in short the various stages of spiritual progress, acpuired by an asqirant during his march to the final Goal, which may diversely be termed as Freedom from bondages, Realisation or merging with God, thc CENTRE. At this stage calmness, tranquility, simplicity and every thing else gained so far, ends and the man assumes the very naked form as it had at the time of Creation. Such marvellous attainments are the real source of ultimate welfare and Bliss.

The Sign of the Time

The world today, is not as it had been thousands of years ago. The development of knowledge and experience, gained through all the past ages has contributed much for the better prospects of life. Man, today claims to have conquered the forces of Nature over land, water and air; and now the exploitation of space has already been undertaken perhaps not without apparent success. But it is not over yet. The scientific brain is still busy with working out greater wonders for the expectant world. But what has all this finally resulted into ? Surely we live a better life with greater facilities and conveniences than our forefathers had. We have greater command over resources which we can utilise to our best advantage. Yet with these worldly achievements we unfortunately find real happiness and peace of mind missing everywhere. The reason may be that the unrestrained growth of materialism is driving us away from Nature, making human life more and more artificial day by day. As a result we find anxiety, fear, jealousy and hatred increasing in the world. Apprehensions of misery and frightful grief are haunting every mind. Dreaded possibilities of war, bloodshed and devastation are too common every where. This is mainly due to the unethical trend of the modern civilisation which owns no relationship with moral or religious bindings. Self, whether as an individual or as a class or nation is predominant in all phases

of human life. Divinity has lost its hold in the modern set-up of the world civilisation. God is treated asa superfluous Being, meant only to serve as a consolation to the weak in their hour of distress. Thus ungodliness in the garb of religion, materialism painted as spirituality, unrighteousness assumed as virtue, is the characteristic feature of the day. Consequentlly religion which originally served as a connecting link between man and God, is now reduced to a mere fossil cf Reality. The diversion of the human tendencies is mostly towards evil. Diplomacy is treated as merit, hypocricy as art, selfishness as patriotism and vanity and show as the very requisites of a modern life. The achieve ments of science too, insinuated with a feeling of self-preponderence and exploitation promote destructive tendencies in the human mind.

Under such a state of degeneration it can hardly be presumed that the world is progressing towards better prospects of elevation. But such an atmospere of ungodliness and sin never persists long and the Naturs's 'Iron Hand' soon comes up to mend or end Our Master–president puts it in the following words:

"But now the age of materialism must come to an end . The old order must change yielding place to new. The present structure of world civilisation based on electricity and atomic energy shall not remain in existence for long. It is destined to fall soon. The whole atmosphere is so much chargd with the poisonous effect of absolute materialism that it is almost beyond human control to clear it.

Time has almost matured for the 'Change', which is imminent and inevitable, and for which the Godly personality, in human form, is already at work..... ....." (From 'Reality At Dawn' page 135,)

Nature's work is always accomplished through the agency of some Divine Soul of special calibre, descended down to earth in human form. Almost all religious speak of such a personality coming down to earth, from time to time, inorder to correct the prevailing unwholesome atmosphere of the world. The same view is expressed by Lord Krishna in the Gita:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम !!

(O, Arjuna ! When there is decline of righteousness and unrighteousness is in ascendency, then I come down assuming the human form)

The Christian view also supports the reappearence of Christ in human form for the second time, inorder to establish the 'Millanium' (the thousand years of Righteousness and Truth). The Mohamadens too proclaim the advent of such a Personality, towards the close of the fouteenth century of the Hijri era. Thus all view concord at the point that the Godly Soul in human form comes down to earth when Nature requires a change. Such a time has now come and the Divine personality in human form has already come down and exists amongst us today. But there is a alight difference of opinion about it. Some of the saintly personalities of the

world do not acknowledge that He has already come down, though they believe that He is soon to come, and are looking for His advent with eager expectations. This is mainly due to the fact that they have their own conceptions of the physical form, they expect Him to appear in. It is generally believed that He is to appear in an imposing form full of internal and external grandeur, exhibiting supernatural powers to command submission at sight. But that may not be, as we suppose it. In fact He may outwardly be so simple and unassuming that His very simplicity may serve as a veil to his True Being. Such is the course of Nature, which may not be acceptable to the materialistic view of the people in general, but the time is at hand when they will be convinced of this bare Truth by the force of events coming to their view in the near future. To Him it matters little whether He is known as such or not. He comes down only for the Nature's work--the CHANGE or a complete overhauling of the world and He is on with His work. His programme includes the wholesale destruction of everything ungodly and evil. This is brought about by various means e. g. storms and floods, famines and diseases wars and massacres, or heavenly calamities like volcanic upheaval or the sinking of earth.

It is, therefore, now for us to judge and realize His presence and to discover Him, wherever and in whatever form He might be. It may be a difficult job for those who hold fast to their own self-conceited views, but for a true seeker it is not the

least difficult only if he is really sincere about it. His presence can be very easily realised if one meditates for it sincerely for some time, thinking that he is receiving impulse from the Great Soul in human form, in existence today. If he feels that thereby he improves spiritually, then that is a sufficient proof of His presence. If he is eager to have a view of the actual physical form of the Great personality, he can meditate for it, setting aside all his pre-supposed notions and ideas. His whereabouts too, can be revealed in the like manner. Great sages of the past have often at times adopted the same means for similar purpose. For saints of higher calibre, it may be very easy to ascertain the fact by reading the signs in Nature or by inter-communing with Him direct through clairevoyance.

Believe it or not, but every one must aleast try to ascertain the fact by any of the means in his power, so that he may not miss the rarest opporttunity, which has so fortunately fallen to our lot this day. The time has now matured for the destined CHANGE and the Divine personality is already at work for it. The signs are evident and clear, and can be read out by anyone who likes to do so. Let us all, therefore, wake up in time to stand by the Will of Nature, inorder to secure for ourselves a safe place in the new order of the coming world, based on the principles of Righteousness and Truth.

Experiences of an Abhyasi.

[Under this permanent column, the personal experiences of the Abhyasis of our system of sadhana are published. The names of the Abhyasis, however, are not published with a view to exercising a check over the natural tendency to indulging in self praise, while giving personal experiences. The Abhyasis are requested to try to emphasise only such matters and events, while writing for this column, as may be helpful in throwing light on the special characteristics of our system of Sadhana. —Editor]

Religion is the constitutional necessity of the human mind. A Hindu is religious by birth. As a boy I used to take much delight and interest in various rituals, ceremonials and worship of family-gods in a customary manner. But when I reached college stage the wave of reason and sledge hammer blows of scientific research shook my faith, and the so-called religion seemed to me a bundle of creeds and meaningless ceremonials. This led me to be attracted by the reformist movement of Arya Samaj, and consequently for some years I tried in vain to get the solace there. Thereafter there prevailed so much confusion in my mind in regard to religion and reality that the attitude of indifference was thought to be the best course to keep the mind free from agitation.

Though the life of indifference towards the

problems of religion and spirituality was chosen yet at times I found my mind disturbed by some inner feeling prompting me to know the means of solution of problem of life. The inner voice being the nature of soul always attempting to get freedom was dulled by the environmental influence of the humdrum of life as soon as it tried to awaken the impulse. But by God's grace the voice was not altogether silent and its effort produced an impression in my mind that there was some Truth to be searched for, and a feeble longing in my heart to know the Truth. Inspite of this I was helpless. I did not know the way. I had practically lost my faith in the worship of gods which were numerous. In fact I could not pitch my faith in any one of them, sometimes worshipping one and leaving the other in the hope of better worldly gains. This state of mind continued for years without any fruit. Ultimately I thought that books might be of some help in giving me enlightenment. Having no knowledge of Sanskrit language I could get no access to the treasury of spiritual knowledge enshrined in holy scriptures. At first I read the English translation of Gita about which I had heard much. I could not understand its import but all the same an impression was created in me that it was a good guide if any body could follow it well. For me there was still confusion. So many forms of yogas and practices confronted me with the difficulty of choosing any one and the greater confusion was about the Ultimate object of realization. I was a mass of confusion knowing nothing as to how to proceed and what to realize.

sometime after I got a book containing the lectures of Swami Vivekanand, the illustrious son of India whose spiritual conquests would continue to saturate the world with ihe fragrance of spirituality and whose message to mankind about the universality of religion would have to be accepted as basis by all the nations if peace is at all to be had in the world. Swamiji while dealing with the initial difficulties of Abhyasis observed 'First know what is to be known, then find out the method suited to your environment and circumstances, test it with reason and then follow it with faith.' Fortunately this simple phrase got imprinted in my mind and heart, and in it I saw the way to the solution of my problem.

Thenceforth as a preparatory step I set myself solely to know what is to be known. I read some books, consulted and discussed with a number of learned men and theologists, but nothing seemed to satisfy me and every discussion involved me in greater confusion. I also attended the lectures of known and celberated exponents of religion, but all these seemed to me dry intellectual jargon. While I was in the midst of intense feelings for the fixture of my object I received a book named 'Reality at Dawn', from a friend of mine, written by His Holiness Shri Ram Chandra Ji, our reverened President of the Mission. I read and re--read this book. The simple and easy style, the natural grip free from dogmatism, clarity of vision and the scientific treatment of the subject with all its naturalness gripped my attention. The elucidation of the goal of life and the means to realize it through the system

of Sahaj Marga opened out vistas of hope to me, and in it I seemed realizing the fulfilment of my desire and the culmination of my painful efforts to fix the objects and search out the means. This is how the way of my approach to this great noble soul was paved.

I had known this great personality popularly known as Babuji from much before and had several occasions to come in contact with him when he visited our town. My approach to him then, was with closed mind and closed heart merely to test him and not with a view to receiving anything from him. Therefore, I got no other impression except that he was a good simple man. After reading the book 'Reality an Dawn' my mind and heart was changed, and there was an inner desire born in me to place myself at the fect of Babuji. The opportunity was waiting for me. He happened to visit our town and stayed for three days. I can not express the sense of consolation and happiness, I felt when the tiding of his arrival reached me. I spent most of the time in the company of Babuji on all the three days. I did not say anything to him. I used to go and sit silently and hear his instructions and sermons to his disciples and also his views and elucidations of the problems which his disciples put before him. His short and unambiguous answers appealed to me. His exposition of intricate problems in understandable language bewildered me. Above all his simplicity and affectionate and brotherly behaviour won my heart. Inwardly my attraction towards him began increasing, my love for him began strengthening and

my faith in him began gaining ground. I felt a bit of calmness in me and marked decrease in mental unrest. Irresistible feeling for his company and help overtook me. I felt as if he had read my heart and feelings and was rousing my inner spirit. I was still silent and did not disclose my feelings to anybody. The day of his departure from our town at last arrived. The feelings of his separation tormented me. I also went along with others to the bus station to give him send off. I was in a melancholy mood. Seated on the front seat he was talking to persons around him looking now and then towards me as well. A few minutes before the departure of the bus he suddenly turned his face with visible brightness in his eyes and with pointed attention towards me remarked in a low voice, 'Your spiritual life is now awakened.' I immediately felt an impulse within me and the sudden rise of a wave of intense love and affection for him in my heart which made me speechless. While I was struggling to control my heart which was trying to flow out through the eyes, the bus went off, and the speechless meeting ended. I could no longer carry the heart--load, and so lightened it by shedding my tears under the sleeves.

Though the first meeting had been speechless and a mute one, yet it touched the deepest chord of my heart and the intense feelings that were created made me restless for his associations. A few days after I managed to get an opportunity to go to Shahjahanpur. I lived for a couple of days in the company of Sri Babuji Maharaj, who besides

giving me his usual sittings imparted certain directions to be observed in the attempt of achieving the goal. During this short stay with Shri Babuji I felt my impulse quickened and growth animated. On my return from Shahjahanpur I experienced a vast change in myself. Thereafter I began participating in the meditation as commanded by him. I must confess that I was a victim of almost all human frailties, and as such was not able to practise meditation to the extent it was desirable. The irregularities of habit and recklessness immanent in nature hindered me to be an ideal Abhyasi. But inspite of all these disadvantages the change was visible in me. My subsequent visits and association with this holy personality continued to effect my being and lighted my mind. If not anything else the lightness of mind and heart was felt by me at every moment. The efficacy of the system and the help of the guide could not remain fruitless. I can not and do not know the development of myself but the external and visible advantage that seemed to have been gained was a little change of outlook towards life and the problems besetting the life. The feelings of pain and pleasure seem to be losing intensity and the hurdles in the way of progress on the path of spirituality seem to me crumbling down like the mass of porcelain. There was felt much relief and the mind was calmer and the heart happier. But that was nothing. It was merely a step in aid of higher achievement. The doctrines and dogmas of religion which at one time appeared to be impeniterable became clear ipso facto as day light. Even today I, do nor know what am I. nor I have

any idea of my progress, but I am conscious at least of one thing that I am on the right path and under the guidance of a really worthy guide capable of elevating the degenerated souls. This has given me a tremendous relief, and I feel that I have won half the battle. Believe me or not but I must give out with all the emphasis at my command and earnestness of my desire that after passing through the zig--zag and unknown paths in the densest forest of religion and through the dreary and dry avenues of intellectualism I found my heart's contentment in the touch of this noble soul and in the system of Sahaj Marga propounded by him. One thing I am sure of and from which nothing can now dissuade or turn me away is about the certainty of goal and the system for its realization. This is greatest consolation which at least I can claim. Even at this stage and the happiness only on this account is inexpressible and the advantages innumerable. The grand personality is a unique gift of Nature in the present times. One can easily read his love which he carries for humanity. His facial expression and eyes are an index of the infinite powers which he enjoys. True it is that all are not blessed to know the secret. Lucky are those who come to know it, more lucky are those who derive advantages out of it and the most lucky undoubtedly would be those who would be swimming with him in the ocean of Bliss, where there is no motion, no vibration, no sensation, yet full of all power, love and happiness.

——An Abhyasi

Mind and its Control

(Shri J. B. Lal, Retd. D. F. O., Lakhimpur-Kheri)

Mind may be likened to a tumultuous pool. Thought–waves are continuously arising in the mind-lake, making it restless. It is on account of these movements of the mind (Vrittis) that the 'self' is wrongly identified with various possessions of the self--body, Manas (instinctual aspect of consciousness), and Buddhi (rational aspect of consciousness) etc. If these Vrittis vanish you can realise the real state of your self or Atmanam just as you can clearly see an object at the bottom of a pool, when the ripples subside.

The mind, in fact, is like a radio set which can receive as well as transmit vibrations from outside through receptors (Jnanendriyas) and effectors (Karmendriyas). If the Indriyas are defective or devoid of their faculties, impressions cannot be formed. On the other hand when your mind is detatched from the centres of the brain from which these Indriyas function, the Indriyas make no impression, for example when we are asleep.

It is through concentration and meditation only that the mind and its movements (Vrittis) can be controlled. Having achieved full concentration, one can put his first step on the ladder leading towards God–realisation. Concentration of the mind is the pre--requisite of the process of Yoga Sadhana. It enables the aspirant to train and organise his mind and keep it in a state of equilibrium. In actual practice, the thoughts are converged to a point like sun's rays converged to a point, when passed through a convex lens. If a piece of paper is held at this focal point it will catch fire. Similarly, when thoughts are concentrated to a point tremendous thought power is developed which can be utilized for so many good and bad purposes.

One can exercise control over his mind and its modifications only through the practice of Yogic Sadhana. Yoga is a state of equilibrium between self and God. Yoga teaches how to control ripples (Vrittis) incessantly arising in the mind; and to curb them into right channels and attain pure bliss beyond mind. Through these sadhans only, the wavy nature of the mind can be controlled.

Some target is essential for concentration on which the mind can rest. It may either be material object or form or an abstract thing. In a state of complete concentration no thoughts, capable of creating permanent impressions arise except that the attention is focussed on the object of meditation. Thereafter the aspirant is plunged in a state of meditation (Dhyan), in which state the object of meditation also vanishes, and the mind gets into a complete state of vacuum followed ultimately by a state known as Samadhi which is an absolute inactive state of mind in the initial stages .

All this is easy to say and hear, but it is extremely difficult in actual practice to attain these stages of mind-control without the help and guidance

of a competent Guide. When the aspirant sits, closes his eyes to concentrate his mind, thoughts wander about. They come in succession and fade away. Mind, in the beginning behaves like an intoxicated monkey. Right, simple and honest living, right thinking and lesser attachment to worldly objects and associations are very helpful in bringing about concentration.

There are various institutions and leaders of various religious sects and creeds who impart practical lessons of their own. But these involve rigorous methods and severe austerities which for an ordinary man in the present set up of society and education are difficult to follow.

In 'Sahaj Marga' system as propounded by Samarth Guru Shri Ram Chandra Ji Maharaj, the process has been made simpler and natural on the fundamental principles of Raj Yoga.

The most important feature of this system is the special function of the competent Guide, in whom the aspirant gradually develops an implicit faith followed by a true surrender of heart. As the aspirant goes on passing through these stages of cooperation with the Guide, the Guide takes the aspirant through the intricate labyrinths of the process of God realisation, which is the ultimate goal of human life.

——:0:——

'सहज-मार्ग' पत्रिका के नियम

—:❀❀❀:—

सहज मार्ग प्रति वर्ष चार बार चैत्र, आषाढ़, अश्विन, पौष अथवा मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होता है।

'सहज मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है।

'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं' कहानियों आदि का विषय मुख्यत: आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक होना चाहिए। लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा। लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा।

प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा रोमन लिपि में काग़ज़ के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे या टाइप किये हुए होने चाहिए।

'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नाँकित पते पर भेजे जाने चाहिए:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन, महराजनगर,
लखीमपुर—खीरी (उ० प्र०)

'सहज-मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं। विज्ञापनों की दर निम्नलिखित है—

कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०)	आधा १०)
	चौथाई ६)

'सहज-मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

—:❀:—

		Price
1-Efficacy of Rajyoga by	*Shri Ramchnndra Ji Shahjahanpur (U. P.)*	*Rs. 2-50 N.P.*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50 N.P.*
३-सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम् (Reality at Dawn in Tamil translaion by A. Balasubramaniam)	1-50 N.P.
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	ले० श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर (उ० प्र०)	मूल्य १-५० नये पैसे
५-अनन्त की ओर	,, ,,	प्रेस में
६-गुरु संदेश	,, ,,	२५ नये पैसे (अप्राप्य)
७-सहज समाधि	ले० कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)	२५ नये पैसे (अप्राप्य)

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहांपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

प्रेमराज प्रेस, नई बस्ती, अस्पताल रोड, लखीमपुर-खीरी ।